

520

कुलसी प्रज्ञा

JOURNAL OF THE JAIN VISHVA BHARATI

१३-४

अक्तूबर-नवम्बर १९७८

अंक ३-४



जैन विश्व भारती
लाडनूं (राजस्थान)

लेखक गण

१. युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी
तेरापंथ सम्प्रदाय के नवम आचार्य
एवं अणुव्रत अनुशास्ता
२. मुनि नवरत्न मल जी
आचार्य श्री तुलसी के शिष्य
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी
३. श्री उदयचन्द्र जैन
प्राध्यापक-संस्कृत महाविद्यालय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी (उ०प्र०)
४. डा० महेन्द्र सागर प्रचण्डिया
संचालक-जैन शोध अकादमी
आगरा रोड़, अलीगढ़ (उ० प्र०)
५. श्री भूरचन्द्र जैन
जूनी चौकी का वास
वाड़मेर (राज०)
६. डा० जयकुमार जैन
सेन्ट्रल स्कूल, वीरपुर
देहरादून
७. डा० कमलेशकुमार जैन
सहायक शोधधिकारी
जैन विश्व भारती
लाडनूँ (राज०)
८. डा० पुष्पा गुप्ता
सहायक शोधधिकारी
जैन विश्व भारती
लाडनूँ (राज०)
९. डा० नथमल टाटिया
निदेशक-शोध विभाग
जैन विश्व भारती
लाडनूँ (राज०)
१०. जे० एस० जंबेरी
उपाध्यक्ष
जैन विश्व भारती
लाडनूँ (राज०)

दुर्वास्य प्रज्ञा

सम्पादक

डॉ. नथमल टाटिया

सह-सम्पादक

डॉ. पुष्पा गुप्ता

डॉ. कमलेशकुमार जैन

प्रबन्ध सम्पादक

गोपीचन्द चोपड़ा



जैन विश्व भारती

लाडनू (राजस्थान)

आजीवन सदस्यता शुल्क :	201-00 रुपये मात्र,
वार्षिक शुल्क :	25-00 रुपये,
एक अंक का मूल्य :	2-50 रुपये,



‘तुलसी प्रज्ञा’ अब तक त्रैमासिक पत्रिका थी, जिसमें केवल शोध लेख ही प्रकाशित किये जाते थे, पर इस अंक से इसे मासिक बनाया जा रहा है। प्रस्तुत अंक युग्मांक के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है।

तुलसी प्रज्ञा में जैन विद्या के विविध क्षेत्रों में चल रही शोध-प्रवृत्तियों से सम्बन्धित शोध निबन्ध एवं अन्य ज्ञानवर्धक सामग्री (कथाएं, कवितायें, मुक्तक, महापुरुषों की जीवनियां, संस्मरण, संस्था परिचय आदि) प्रकाशित की जायेगी। प्रकाशनार्थ प्रेषित निबन्ध एवं अन्य सामग्री अन्यत्र प्रकाशित नहीं होनी चाहिये। कागज के एक ओर सुस्पष्ट रूप से हस्तलिखित या टंकित होना चाहिए। साथ में लेखक अपना परिचय भी भेजें।

जैन विद्या की विविध विधाओं से सम्बद्ध विषयों पर विश्वविद्यालयों के द्वारा स्वीकृत शोध महानिबन्धों के सारसंक्षेप भी प्रकाशनार्थ भेजे जा सकते हैं।

‘साहित्य-समीक्षा’ स्तम्भ के अन्तर्गत समीक्षार्थ भेजी जाने वाली पुस्तक की दो प्रतियाँ प्राप्त होनी चाहिए।

नोट :—यह आवश्यक नहीं है कि इस अंक में प्रकाशित लेखों में उल्लिखित विचार सम्पादक अथवा संस्थान को मान्य हों।

तुलसीप्रिया

खण्ड-4

अक्टूबर-नवम्बर 1978

अंक 3-4

लेख सूची

1. वचन-वीथी 191
—आगम वचन
2. आचार्य प्रवचन : मैत्री-भावना 192
—युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी
3. अहिंसा के प्रयोग 194
—आचार्य श्री तुलसी
4. इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों से : मुनि श्री ईशर जी (बीदासर) 196
—मुनि नवरत्नमल
5. जैन न्याय में अनुमान और तर्क का स्वरूप 202
—प्रा० उदयचन्द्र जैन
6. श्रीमज्जयाचार्य रचित 'भीषी चरचा' 214
—अनु० मुनि नवरत्नमल
7. तेरापंथ के तीन ऐतिहासिक स्थल 221
—भूरचन्द्र जैन
8. जैन हिन्दी कवियों की अलंकार-योजना 224
—डॉ० महेन्द्रसागर प्रचंडिया
9. शोष-प्रबन्ध का सार : वादिराजसूरि कृत पार्श्वनाथ चरित का 230
समीक्षात्मक अध्ययन
—डॉ० जयकुमार जैन
10. जैन विद्वत् भारती : प्रवृत्ति एवं प्रगति 237
—डॉ० कमलेशकुमार जैन एवं डॉ० पुष्पा गुप्ता

सम्पादकीय

तुलसी-प्रज्ञा जो जैन विश्वभारती का मुखपत्र है, अब तक त्रैमासिक पत्रिका थी, जिसमें केवल शोध-लेख ही प्रकाशित किये जाते थे। पर इस अंक से इसे मासिक बनाया जा रहा है। प्रस्तुत अंक युग्मांक के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है।

इसे सर्वजनोपयोगी बनाने की दृष्टि से इसमें शोध-लेखों के अतिरिक्त रोचक व ज्ञानवर्धक कथाएं, मुक्तक, कविताएं, महापुरुषों की जीवनियां, सूक्तियां, संस्मरण, संस्था-परिचय आदि भी दिए जावेंगे। कथाएं, लेख, कविताएं आदि सांस्कृतिक, आध्यात्मिक और धार्मिक विषयों पर ही आधारित होंगी। साम्प्रदायिक विद्वेष या राजनैतिक चर्चाओं को स्थान नहीं दिया जायगा।

तुलसी-प्रज्ञा में जैन विश्व भारती के सारे कार्य-कलापों का विवरण रहेगा। जैन-धर्म सम्बन्धी गतिविधियों के विवरण भी इसमें प्रकाशित किये जायेंगे, पर उनके जन-हितकर पक्षों को अधिक महत्व दिया जा सकेगा।

भारतीय विद्या से सम्बन्धित सभी क्षेत्रों के महत्त्वपूर्ण समाचार तुलसी-प्रज्ञा में प्रचारित एवं प्रसारित किये जायेंगे।

विश्व का अधिकांश शिक्षित समाज जैन धर्म एवं संस्कृति से अपरिचित है। फल-स्वरूप टॉयनबी जैसे बहुश्रुत विश्व इतिहासकार द्वारा रचित 'स्टडी ऑफ हिस्ट्री' जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ में भगवान् महावीर या जैन धर्म का उल्लेख तक नहीं है, यद्यपि उन्होंने हिन्दू एवं बौद्ध संन्यास-जीवन की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। टॉयनबी के समक्ष यदि भगवान् बुद्ध के जीवन-वृत्त जैसा भगवान् महावीर का प्रभावक जीवन-वृत्त रहता, तो श्रमण-परम्परा के महावीर जैसे श्रेष्ठ महापुरुष का उल्लेख अवश्य उस ग्रन्थ में रहता। अतः व्यापक रूप से विश्व को जैनधर्म के इतिहास एवं भारतीय संस्कृति में उसके योगदान से परिचित कराना भी हमारा एक महत्त्वपूर्ण ध्येय रहेगा। एतदर्थ जैन तथा जैनेतर संस्थाओं में जैन धर्म एवं संस्कृति से सम्बन्धित विभिन्न प्रवृत्तियों से जैन समाज को अवगत कराने के साथ-साथ जैनेतर पाठकों को जैन-विद्या के विभिन्न पहलुओं से परिचित कराना भी हमारा लक्ष्य रहेगा।

जैन विश्वभारती की अन्तश्चेतना के केन्द्र अणुव्रत अनुशास्ता युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी के प्रवचनों को बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय जन-जन के हृदय तक पहुंचाना इस पत्रिका का एक प्रमुख लक्ष्य रहेगा।

तुलसी-प्रज्ञा की सारी प्रवृत्तियाँ, व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र के मंगल-पथ पर आगे बढ़ने में सहायक तभी हो सकेंगी, जब शुद्ध धर्म का प्रचार इसके माध्यम से हो सकेगा।

तुलसी-प्रज्ञा का प्रतिवर्ष कम से कम एक शोध-विशेषांक प्रकाशित किया जायेगा जिसमें जैन धर्म, साहित्य और संस्कृति पर देश-विदेश के विशिष्ट विद्वानों के लेख रहेंगे। विदेशी विद्वानों द्वारा किये गए एवं किए जा रहे शोध-ग्रन्थों के संक्षिप्त विवरण भी विशेषांक में प्रस्तुत किये जायेंगे। देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों में जैन-विद्या पर तैयार किये गये शोध-निबन्धों के संक्षिप्त विवरण समय-समय पर प्रकाशित किये जायेंगे।

वचन-वीथी

अणेगणं सहस्साणं
मज्झे चिट्ठसि गोयमा ! ।
ते य ते अहिगच्छन्ति
कहं ते निज्जिया तुमे ? ॥

एणे जिए जिया पंच
पंच जिए जिया दस ।
दसहा उ जिणित्ताणं
सव्वसत्तु जिणामहं ॥

सत्तु य इइ के वुत्ते ?
केसी गोयममव्ववी ।
तओ केसि वुवंतं तु
गोयमो इणमव्ववी ॥

एगप्पा अजिए सत्तु
कसाया इन्दियाणि य ।
ते जिणित्तु जहानायं
विहरामि अहं मुणी ! ॥

साहु गोयम ! पन्ना ते
छिन्नो मे संसओ इमो
अन्नो वि संसओ मज्झं
तं मे कहसु गोयमा ! ॥

दीसन्ति बहवे लोए
पासबद्धा सरीरिणो ।
मुक्कपासो लहुबभूओ
कहं त विहरसी ? मुणी ! ॥

ते पासे सव्वसो छित्ता
निहन्तूष उवायओ ।
मुक्कपासो लहुबभूओ
विहरामि अहं मुणी ! ॥

पासा य इइ के वुत्ता ?
केसी गोयममव्ववी ।
केसिमेवं वुवंतं तु
गोयमो इणमव्ववी ॥

रागदोसादओ तिव्वा
नेहपासा भयंकरा ।
ते छिन्वित्तु जहानायं
विहरामि जहक्कमं ॥

गौतम ! तुम हजारों—हजारों शत्रुओं
के बीच खड़े हो । वे तुम्हें जीतने को तुम्हारे
सामने आ रहे हैं । तुमने उन्हें कैसे पराजित
किया ?

एक को जीत लेने पर पाँच जीते गए ।
पाँच को जीत लेने पर दस जीते गये । दसों
को जीत कर मैं सब शत्रुओं को जीत लेता हूँ ।

शत्रु कौन कहलाता है ? —केशी ने
गौतम से कहा । केशी के कहते-कहते ही
गौतम इस प्रकार बोले—

एक न जीती हुई आत्मा शत्रु है । कषाय
और इन्द्रियां शत्रु हैं । मुने ! मैं उन्हें जीत
कर नीति के अनुसार विहार कर रहा हूँ ।

गौतम ! उत्तम है तुम्हारी प्रज्ञा !
तुमने मेरे इस संशय को दूर किया है । मुझे
एक दूसरा संशय भी है । गौतम ! उसके
विषय में भी तुम मुझे बतलाओ ।

इस संसार में बहुत जीव पाश से बंधे
हुए दीख रहे हैं । मुने ! तुम पाश से मुक्त
और पवन की तरह प्रतिबंध-रहित होकर कैसे
विहार कर रहे हो ?

मुने ! उन पाशों को सर्वथा काट कर,
उपायों से विनष्ट कर मैं पाश-मुक्त और
प्रतिबन्ध रहित हो कर विहार करता हूँ ।

पाश किसे कहा गया है ? —केशी ने
गौतम से कहा । केशी के कहते-कहते ही
गौतम इस प्रकार बोले—

प्रागढ़ राग-द्वेष और स्नेह भयंकर पाश
हैं । मैं उन्हें काट कर मुनि-धर्म की नीति
और आचार के साथ विहार करता हूँ ।

—उत्तरज्ज्ञयणाणि, २३।३५-४३

मैत्री-भावना

सत्त्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं,
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम् ।
माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ,
सदा ममात्मा विदधातु देव ॥

सब प्राणियों के साथ मेरी मैत्री हो, गुणियों के प्रति अनुराग हो, मेरा मानस क्लान्त मनुष्यों के प्रति कृपापरायण हो, मेरी आत्मा विपरीत आचरण करने वालों के प्रति मध्यस्थ रहे ।

इस प्रकार की पवित्र प्रभावना से भावित मनुष्य कल्याण पथ पर अग्रसर होता है । वैसे तो शत्रु और मित्र हर व्यक्ति के होते हैं, कहा भी गया है—

सज्जन जाके सौ नहीं, दुश्मन नहीं पचास,
तिण जन को जननी जणी, भार मुई नौ मास ।

शत्रु और मित्र रहें, इसमें कोई आपत्ति नहीं है । आपत्ति वहां खड़ी हो जाती है, जहां शत्रु के साथ शत्रुता और मित्र के साथ मित्रता का व्यवहार किया जाता है । जो व्यक्ति महान् होता है वह शत्रु को भी शत्रु बुद्धि से नहीं देखता । उसका यह प्रतिक्षण चिन्तन रहता है कि मेरा कोई शत्रु नहीं है । भगवान् महावीर के शब्दों में 'मित्री मे सव्व भूएसु' मेरी सब प्राणियों के साथ मैत्री है । किसी की ताकत नहीं है जो मेरे साथ शत्रुता का व्यवहार कर सके । यहाँ तक कि मुझे मारने को उद्यत मनुष्य भी मुझे मार नहीं सकता । मैं आत्मा हूँ, शरीर नहीं हूँ । शरीर नश्वर है, आत्मा अजर, अमर और अविनाशी है । मनुष्य का कोई शत्रु या मित्र बन सकता है तो उसकी आत्मा ही बन सकती है । सत्प्रवृत्त आत्मा मनुष्य को अध्यात्म की ऊँचाई पर ले जाती है और दुष्प्रवृत्त आत्मा उसे पतन की ओर ले जाती है । ऐसा प्रशस्त चिन्तन जिस व्यक्ति का होता है, वही अनुकूलता और प्रतिकूलता में मध्यस्थ रह सकता है ।

*आचार्य श्री तुलसी के प्रवचन से ।

आचार्य भिक्षु में कोई त्रुटियां निकालता, तो वे उस पर रोष नहीं करते। बल्कि यह कहते कि बहुत अच्छा हुआ, मेरे अवगुण कुछ मैं निकाल लूंगा, कुछ दूसरे निकाल देंगे; मैं तो पवित्र बन जाऊँगा।

एक बार आचार्य भिक्षु पहाड़ की तलहटी में बैठे विश्राम कर रहे थे। एक व्यक्ति उधर से निकला। साधुओं को देखते ही उसने पूछा, “आप कौन हैं ?”

स्वामी जी ने कहा, “भाई, लोग मुझे भीखण कहते हैं।”

भीखण नाम सुनते ही वह तिलमिला उठा। ललाट पर त्रिवली अंकित हो गयी और एक गहरी सांस छोड़ते हुए बोला, “आज तो अनर्थ हो गया।”

“क्यों भाई, ऐसा क्या हो गया ?” आश्चर्य के स्वर में स्वामीजी ने पूछा।

“तुम्हारा मुंह जो दीख गया।”

“मेरा मुंह देखने से ऐसा क्या अनर्थ ?”

स्वामीजी के इन शब्दों ने अग्नि में घृत का काम किया। वह आग-बबुला होता हुआ बोला—“तुम्हारा मुंह देखने वाले को नरक जाना पड़ता है नरक।”

स्वामीजी मन ही मन मुस्कराए और बोले—

“मैं तो यह नहीं मानता कि किसी का मुंह देखने मात्र से नरक या स्वर्ग मिलता है, पर तुम्हारी यदि यह धारणा है, तो जरा मुझे यह बता दो कि तुम्हारा मुंह देखने वाला कहाँ जायेगा ?”

बिना विचारे ही वह व्यक्ति तपाक से बोला, “स्वर्ग में।”

स्वामीजी ने विनोद के साथ कहा, “तब तो तुम मेरे बहुत बड़े उपकारी हो। स्वयं के लिये नरक तैयार करके भी मुझे स्वर्ग भेज रहे हो।”

यह है महान् व्यक्तियों की महत्ता जो बुराई में भी अच्छाई को ढूँढ निकालती है। जो महान् होते हैं, वे शत्रु के भी उद्धार की ही कामना करते हैं।

संगम देव ने भगवान् महावीर को एक रात में अनेक मारणांतिक कष्ट दिए, पर महावीर का मानस तो उसके प्रति करुणाशील ही बना रहा। यह है सर्वोच्च मैत्री का विकास। मैत्री का विकास होने पर क्रोध, आवेश, ईर्ष्या आदि बुराइयाँ स्वतः समाप्त हो जाती हैं। मैत्री साधना का प्रथम चरण है। मैत्री की भव्य भित्ति पर ही साधना का महल खड़ा हो सकता है।

—०—

अहिंसा के प्रयोग

आचार्य श्री तुलसी

अहिंसा शब्द में ऐसी मधुर मिठास है, जो मनुष्य के पोर-पोर को मधुरिमा से भर देती है। इसकी मिठास का प्रभाव किसी व्यक्ति या वर्ग विशेष पर नहीं, समग्र संसार पर है। यही कारण है कि विश्व के सभी लोगों ने इसका प्रयोग किया है और सुफल पाया है। धार्मिक लोग अहिंसा की गरिमा गाए या अपनी समस्याओं का समाधान इसी से पाए, इसमें आश्चर्य जैसा कुछ भी नहीं है। किन्तु जब ये व्यक्ति अहिंसा के प्रयोग की बात करते हैं, जिनका धर्म या अहिंसा के साथ सीधा कोई सम्बन्ध ही नहीं होता, तब सुखद आश्चर्य होता है।

इस युग में राजनीति में अहिंसा का प्रयोग करने वालों में गांधी जी का नाम शीर्षस्थानीय है। उन्होंने भारतीय राजनीति के सन्दर्भ में एक नई क्रान्ति की। शताब्दियों से परतन्त्र राष्ट्र चेतना को अहिंसा की शक्ति से स्वतन्त्र करने की घोषणा की और उसकी क्रियान्विति के लिए कर्म क्षेत्र में उतर पड़े। विदेशी सत्ता चरमरा उठी। उसने अहिंसा के समक्ष घुटने टेक दिए। भारत स्वतन्त्र हो गया। आज भी गांधी जी के अनुयायी राजनीति में अहिंसा का प्रयोग कर रहे हैं। इस प्रयोग के पीछे उनकी आस्था कितनी है? यह प्रश्न तो अब तक अनुत्तरित रहा है, पर सैद्धान्तिक रूप से अहिंसा की मूल्यवत्ता निर्विवाद रूप से स्वीकृत की जा रही है।

अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को आज अहिंसा के मंच से सुलझाने का प्रयास किया जा रहा है। यह भी अपने आप में एक नया प्रयोग है। शस्त्रास्त्र-निर्माण की प्रतिस्पर्धा में निःशस्त्रीकरण के जो स्वर सुनाई दे रहे हैं, वह अहिंसक चिन्तन की ही फलश्रुति है। विरोधी विचारों वाले व्यक्तियों का सामंजस्यपूर्ण सहावस्थान अहिंसा की भूमिका पर ही हो सकता है। इसी दृष्टि से संयुक्त राष्ट्र संघ जैसे अन्तर्राष्ट्रीय संस्थान अहिंसात्मक मूल्यों में विश्व शान्ति की कल्पना कर रहे हैं।

अपराध जगत में आज अहिंसा के विशेष प्रयोग हो रहे हैं। प्राचीन समय में कारावास यन्त्रणा गृह के रूप में प्रसिद्ध थे। वहां अपराधियों को घोर शारीरिक और मानसिक यातनाएं दी जाती थीं। इससे उनका विद्रोह अधिक प्रबल होता और वे जेलों से मुक्त होते ही पहले से भी भयंकर अपराधों में संलग्न हो जाते। दमन की नीति अपराध कम करने में

सफल नहीं हा पाई तब कुछ लोगों ने अहिंसात्मक दृष्टिकोण अपनाया। अपराधी को यातना देने के स्थान पर उसे रचनात्मक क्षेत्र दिया गया। अधिकारियों की आत्मीयता, वातावरण की स्वस्थता और सम्मानपूर्ण जीवन जीने की चाह ने व्यक्ति को बहुत अधिक रूपान्तरित कर दिया। इस सुफल को देखा इस दिशा में नई शोध हुई, नए प्रयोग हुए और आज अहिंसा के प्रयोक्ताओं में इस वर्ग को सहज रूप से सम्मिलित किया जा रहा है।

एक युग था जब सामाजिक संघर्ष की स्थिति में जाति बहिष्कार जैसी परम्पराएँ प्रचलित थीं। जन-जीवन में आतंक और प्रतिशोध के भाव व्याप्त थे। आज ऐसा कुछ नहीं है, यह बात तो नहीं है। फिर भी अहिंसा के प्रति आस्थाशील कुछ व्यक्ति सामाजिक संघर्षों को भी अहिंसा के धरातल पर समाप्त करने का प्रयत्न कर रहे हैं। ऐसे प्रयासों से भी अहिंसा का वर्चस्व बढ़ा है।

परिवार समूह—चेतना की दृष्टि से सबसे छोटी संस्था है। एक परिवार के सदस्य भी कभी-कभी विचार-भेद के तीव्र आक्रमण से आक्रान्त हो जाते हैं। पिता-पुत्र के मध्य संघर्ष छिड़ जाता है। मां-बेटी में अनबन हो जाती है। भाई-भाई में दुराव हो जाता है। पति-पत्नी में बोलचाल तक बन्द हो जाती है। ऐसे विषम वातावरण में अहिंसा के प्रयोक्ता शान्ति स्थापित कर देते हैं। इससे आग्रह की दीवारें टूट जाती हैं और जीवन सरल बन जाता है। सन्देह की उभरती हुई रेखाएँ सम हो जाती हैं और पारस्परिक विश्वास प्रगाढ़ हो जाता है।

अपने व्यक्तिगत जीवन में भी अहिंसा के प्रयोग करने वालों की संख्या कम नहीं है। जिन लोगों की आध्यात्मिक रुचि परिष्कृत है। जो कर्मणा धार्मिक हैं। जो धर्म को जीवन के रूपान्तरण की प्रक्रिया मानते हैं, उन्हें अहिंसा के प्रयोग करने ही होते हैं। इस प्रकार व्यक्ति से शुरू हुए ये प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज तक लोक जीवन को प्रभावित करते हैं और आनन्द का अनाबाध मार्ग प्रशस्त करते हैं।

जिन लोगों ने अपने जीवन में अहिंसा का प्रयोग किया है, उनके लिए यह असंदीन द्वीप के समान है। असंदीन द्वीप में रहने वालों के सामने कभी जल का खतरा नहीं रहता। वे सदा निश्चिन्त रहते हैं। भयंकर तूफान भी उन्हें आतंकित नहीं कर पाता। अहिंसा की अर्हता तो इससे लाख गुना अधिक है, इसलिए इसकी छत्र-छाया में रहने वाले व्यक्ति किसी भी क्षण संव्रस्त नहीं हो सकते।

—०—

सारा संसार प्रवाह के पीछे-पीछे चल रहा है, किन्तु जो व्यक्ति कुछ होना चाहता है, कुछ प्राप्त करना चाहता है, कुछ ग्रहण करना चाहता है, उस व्यक्ति को अपनी आत्मा को प्रतिस्त्रोत में लगा देना चाहिए। स्त्रोत के साथ-साथ नहीं चलना चाहिए।

—दशवैकालिक सूत्र, द्वितीय घूलिका, सूत्र २

मुनि श्री ईशरजी (बीदासर)

(संयम-पर्याय वि० सं० 1930-1979)

मुनि नवरत्नमल

[जैन विश्व भारती के शोध-विभाग के अन्तर्गत तेरापंथ के इतिहास पर गवेषणा कार्य चल रहा है। यह कार्य मुनि श्री नवरत्नमल जी के सान्निध्य में लगभग दो वर्षों से निरन्तर गतिशील है। प्रस्तुत स्तम्भ में 'इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों से' रोचक एवं प्रेरक सामग्री पाठकों की सेवा में प्रकाशित की जा रही है। आशा है, पाठकगण इससे लाभान्वित होंगे। साथ ही, एतद् विषयक विशेष जानकारी रखने वाले पाठकों से अपनी सामग्री की सूचना हमें प्रेषित करने का अनुरोध है।—सं०]

गीतक छन्द

प्रथम बीकानेर में फिर वास बीदासर किया।

था वहाँ ननिहाल फिर ससुराल भी तो कर लिया।

जाति डागा अमर-नंदन नाम ईशर आपका।

मिला सच्चा धर्म समझा मर्म मानव जन्म का ॥१॥

भव्य आकृति प्रकृति ऋजु मृदु वर्ण तन का गौर है।

साधना का तरुण वय में लिया मार्ग कठोर है।

धर्मपत्नी आपकी श्रमणी बनी है प्रथम ही।

आप पीछे बने साधक विरति की धारा बही ॥२॥

दोहा

नियम इतर सम्बन्ध का, फिर भी धर उत्साह।

स्त्री को अनुमति दी अहो ! (फिर) ली खुद ने वह राह ॥३॥

1. मुनि श्री ईशरजी बीकानेर के पूजाणी डागा (ओसवाल) थे। उनके पिता का नाम अमरचंद जी था। उनका ननिहाल बीदासर होने से वे बीदासर रहने लगे एवं विवाह

भी बीदासर के चोरडिया परिवार में हुआ। उनकी पत्नी का नाम चांदांजी था। बीदासर में आने के पश्चात् साधु-साध्वियों की संगति से उनको सत्य धर्म की प्राप्ति हुई और उत्तरोत्तर धार्मिक भावना बढ़ती गई। उनकी पत्नी दीक्षा के लिए तैयार हुई तब उन्होंने दूसरी शादी करने का त्याग होते हुए भी बड़े हर्ष से आज्ञा प्रदान की और दीक्षोत्सव पर एक हजार रुपये खर्च किये। उनकी नानीजी गुमाना बाई ने भी बारह सौ रुपये लगाये।

इस प्रकार उनकी पत्नी साध्वी श्री चांदांजी (387)* ने उनको छोड़कर 16 वर्ष की अवस्था में सं० 1926 कार्तिक कृष्णा 1 को जयाचार्य के हाथ से बीदासर में संयम ग्रहण किया।

*[स्वामी जी से लेकर अद्यावधि दीक्षित समस्त साधु-साध्वियों की सूची रहती है, उसी संख्या क्रम का सूचक अंक यहाँ दिया गया है। अतः सर्वत्र साधु-साध्वियों के नाम के आगे दी गई क्रम संख्या को उक्त प्रकार समझना चाहिये। साधु और साध्वियों की सूची पृथक् पृथक् है।]

ईसर पुत्र डागा अमरचन्दनो, बीकानेर थेट में वास।

बीदासर नानाणा रा जोग स्यूं, कियो वास धर्म लहो खास।
(जय सुजश, ढा. 56 गा० 5)

जाति डागा ईसरदास जी कांई, तास त्रिया गुणवान।

नाम चांदां बीदासर तणा, वय सोलह वर्ष उनमान ॥

छति ऋध पति छोड़ नें, थया चरण लेण परिणाम।

त्रिया दूजी त्याग परणवा, पति आग्या दी हर्ष मन ताम।

कियो मोछव पति हर्ष सूं, नानी गुमानां बाई नाम।

रुपइया बारे सै आसरै, खरच्या सूत्रादिक मोछव काम।

घणे हगाम दिक्षा ग्रही जी, चांदांजी धर चूप।

कार्तिक दिन पड़वा दिने, धर सीख अमि रस कूप ॥

(जय सुजश, ढा. 53 गा० 7 से 10)

कुछ वर्ष बाद अपने छोटे भाई का ब्याह करने के पश्चात् जयाचार्य के उपदेश से वे स्वयं दीक्षा के लिए तैयार हो गये। और सं० 1930 फाल्गुन कृष्णा 1 को उन्होंने मुखाराम जी (241) के साथ जयाचार्य के पास दीक्षा ग्रहण की।

हुवो माह सुद सप्तम नो तिहां स्वा०,

मर्याद मोछव श्रीकार हो।

डागा ईसरदास ने तब कियो स्वा०,

चारू चरण लेवानें तयार हो ॥

वर्ष छाइसै त्रिया चांदा भणी सजनजी,

देवाय चरण सुविचार हो।

पछै लघु बन्धव परणाय ने स०,

हिंवे हुवो चरण लेवा तयार हो ॥

फागण कृष्ण एकम बहु मोच्छव स०,

ईसरदास भणी शहर बार हो।

वलि भियानी नां मुखराम नै स०,

बिहुं नें चरण दे कियो विहार हो ॥

(जय सुजश, ढा. 56 गा० 4,6,7)

गीतक-छन्द

विजय इन्द्रिय-विषय पर कर विजय पाई दृढ़मना ।
कुशल आचारी बने बहु निर्जरा की भावना ।
सुगुरु सेवा में समर्पित किया है सर्वस्व सब ।
कृपा-पात्र विशेष 'जय' के बने फल पाये अजब ॥4॥

सोरठा

उनके कुछ वृत्तान्त, सुन्दरतम सुन लीजिए ।
सद्गुण मुक्ता कान्त, ग्राहक बन चुन लीजिए ॥5॥

दोहा

की चौकी के काम की, जय गणि ने बक्शीश ।
देख सरलता आपकी, सभी हिलाते शोश² ॥6॥
मयाचन्द ईशर यहां, मघजी मेरे पास ।
ले मुनिवर विचरो करो, पुर-पुर धर्म प्रकाश³ ॥7॥
जय गणि की सुखपाल⁴ को, एक उठाते आप ।
मिलता पक्का पेटिया, लगी हुई थी छाप⁵ ॥8॥

ख्यात तथा शासन प्रभाकर में उनकी दीक्षा-तिथि फाल्गुन कृष्ण 11 लिखी है पर जय सुजश की उक्त तिथि ही ठीक लगती है ।

उनके पहले मुनि फौजमलजी (242), नेमीचंदजी (243) और जोतरामजी (244) की दीक्षा हुई, ऐसा ख्यात में है । पर संभवतः इन तीनों की बड़ी दीक्षा बाद में होने से उनका और मुखारामजी का नाम पहले आया है । ख्यात में मुनि फौजमलजी की बड़ी दीक्षा का स्पष्ट उल्लेख होने से नेमीचंद जी तथा जोतराम जी की बड़ी दीक्षा बाद में हुई ऐसा प्रतीत होता है ।

2. मुनि ईशरजी के 'कार्य-विभाग' चालू हुआ ही था, और उनके 'चौकी' के कार्य का क्रम आ गया । वे स्वयं नहीं जानते थे कि 'चौकी' का कार्य कैसे किया जाता है । उन्होंने साधुओं से पूछा तब उन्होंने कहा—सन्ध्या के समय सन्तों के कपड़े मकान के बाहर या अन्दर नीचे जमीन पर पड़े हुए हों तो उन्हें उठाकर ले आना और फिर जिनके हों उन्हें दे देना । वे 'चौकी' देने के लिए गये और सन्तों के नीचे पड़े हुए सारे उपकरण आदि ले आए । जब साधुओं ने अपने अपने वस्त्रादिक संभाले, तब पता लगा कि ईशरजी 'चौकी' में ले गये । उन्होंने जयाचार्य से इसकी शिकायत की, तो जयाचार्य उनकी सरलता पर मन ही मन मुस्कराये और उन्हें बुलाकर कहा—तुम्हें चौकी देनी नहीं आती, अतः सदा के लिए 'चौकी' के काम की बक्सीस करता हूं । देखने वाले सब विस्मित से रह गये ।

लख सरल स्वभावी जय चौकी बकसाव।

(मगन चरित्र, ढा. 1 गाथा 89 पृ० 17)

3. मुनि श्री ईशरजी और मुनि श्री मयाचंद जी (214) जयाचार्य के अनन्य वैया-
वृत्य (सेवा) करने वाले और अच्छे कृपा पात्र संत थे। ऐसा सुना जाता है कि एक बार
जयाचार्य ने युवाचार्य मघवा को कहा—मघजी ! यहां बैठे क्या करते हो, पुस्तकें और
संतों को लेकर विचरण करो और धर्म-प्रचार करो। मेरे पास में तो मुनि मयाचंद जी और
ईशरजी दो ही संत काफी हैं।

कहता जय मघजी ! बैठा काई करो थे।

जावो उपकार करो जनपद विचरो थे।

म्हारै तो ईसर मयाचन्द दोनूं है।

ईं जोड़ी थकां जरूरत किण री क्यूं है।

(मगन चरित्र ढा. 1 गा० 88 पृ० 17)

ऐसी अनुश्रुति है कि जयाचार्य रात्रि के समय पैर आदि दबवाते तब आप दोनों मुनि
कभी-कभी तो प्रहर रात तक वैयावृत्य करते।

4. कम्बलों को लकड़ी के डंडों से बांधकर एक डोली सी बना दी जाती है, जिसमें
साधु अथवा साध्वी अच्छी तरह बैठ सकें, उसे सुखपाल कहते हैं।

साधु-साध्वी इसे अपने हाथ से बनाते हैं और वृद्धावस्था अथवा रग्णावस्था आदि
परिस्थिति विशेष में ही इसका उपयोग करते हैं तथा स्वयं ही अपने कंधों पर उठाकर एक
क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र को ले जाते हैं।

5. ऐसा सुना जाता है कि जयाचार्य सं० 1936 में सुखपाल से जयपुर पधारे
तब उसे उठाने वाले चार संत मयाचन्द जी (214) रामसुखजी (217) छबील जी (230)
और ये थे। उन्हें आचार्य श्री द्वारा पक्का पेटिया [विशेष शारीरिक श्रम देने वाले
साधुओं को समुच्चय से बिना विभाग के यथेष्ट मात्रा में घी, दूध, मिठाई आदि दिया जाता
है, वह पक्का पेटिया कहलाता है।] मिलता था। इस विषय में आचार्य श्री तुलसी ने
लिखा है—

जय जयपुर यात्रा में, सुखपाल उठातो।

पक्को पेटियो महामुनि, ईसर पातो ॥

(मगन चरित्र ढा. 1 गा० 89 पृ० 17)

दोहा

सेवक शासन के सजग, थी गुरु भक्ति महान ।
परिचर्या नव साधु की, करते देकर ध्यान ॥9॥
विश्वासी विनयी बड़े, सेवा-वृत्ति विशेष ।
आचार्यों के उदक का, करते कार्य हमेश⁶ ॥10॥
नव दीक्षित कालूगणी, और मगन मंत्रीश ।
रहे आपके 'साभ' में, धर गुरु आज्ञा शीष⁷ ॥11॥
प्रायः गुरुकुल वास का, लिया आपने लाभ ।
बने अग्रणी शेष में, गये बढ़ाते आब⁸ ॥१२॥
बीस दिवस का आ गया, अनशन आखिरकार ।
बढ़ते चढ़ते भाव से, सफल किया अवतार ॥13॥
कृष्ण द्वितीया श्रावणी, साल गुण्यासी जान ।
गढ़ सुजान में हो गया, चरमोत्सव मंडान⁹ ॥14॥

6. मुनि श्री ईसरजी के विशिष्ट गुणों का वर्णन निम्नोक्त पद्यों में मिलता है :—
वलि ईसरदास उदारी लाल, करी सेवा अधिक सुभारी जी ।
व्यावचियो गुण जश वरतो लाल ॥
(जय सुजश, ढा. 61 गा० 12)

आचार्य श्री तुलसी के शब्दों में :—

ईसरजी मुनिवर व्यावचियो गुणग्राही,
शासन रो सेवक सद्गुरु तन परछांही ।
आचार-कुशल है परम विनीत सयाणो,
विश्वासपात्र नव दीक्षित रो थिर थाणो ॥
आचार्यां री नित उदक चाकरी करतो,
तिम सहज अंग-रक्षक को पद अनुसरतो ।
पत्नी चांदा वय सोल वरष री स्याणी,
पहिलां दीक्षित ईसरजी अनुमति आणी ॥
खुद च्यार वरष पाछे ली चरण-समाधी,
कारण छोटे भाई री करणी शादी ।
भिक्षू शासन में आछो नाम कमायो,
मघवा निज मुख जय-सुयश ग्रंथ में गायो ॥

(मगन चरित्र, ढा. 1 गा० 85 से 87)

7. मुनि मगनलाल जी (294) पहले उनके साक्ष [भोजन आदि की सुव्यवस्था के लिए एक व्यक्ति की प्रमुखता में मुनि-मंडल] में थे ।

मगन ईसरजी मुनि साभ में, सुगुरु-दृष्टि शुरू शुरू में जमें ।
चरण में थिर चित्त भणो पढो, गण-गणी अनुकूल पणै बढो ॥

(मगन चरित्र, डा. 1 गा० 90 पृ० 17)

कालूगणी दीक्षा लेते ही कुछ समय तक प्रतिलेखन, प्रति-क्रमण आदि आपके पास करते । फिर सं० 1947 में मधवागणी ने मगनलाल जी स्वामी का साक्ष करवाया तब कालू गणी की 'पांती' उनके साझ में कराई ।

सैंतालीसै जद पांती हुती सुहाती,
तिण दिन स्यूँ रह्या मगन-कालू बण साथी ।

मुनि पन्नालाल और चौथा जयचन्दजी,
च्यारूँ इक साभे रह्या सुगुरु दिलरंजी ॥

(मगन चरित्र, डा. 1 गा० 99 पृ० 19)

8. मुनि श्री ईशर जी प्रायः आचार्यों की सेवा में रहे । सं० 1938 में उनका जया-चार्य की सेवा में रहने का 'जय सुजश' डा० 61 गा० 12 में उल्लेख है ।

सं० 1939 तथा 1943 से 46 तक मधवागणी के साथ रहे तथा वहां इन वर्षों में

उपवास, $\frac{2}{4}, \frac{3}{8}, \frac{4}{8}$ किये । ऐसा मधवा-गणि रचित चातुर्मासिक तप विवरण ढालों में है ।
181

माणकगणी के स्वर्गवास के समय सुजानगढ़ में 14 साधुओं में आप थे । इसका माणक महिमा ढाल 18 दोहा 2 में उल्लेख है ।

इस प्रकार वे कालूगणी तक आचार्यों की सेवा में रहे एवं कृपा-पात्र बने ।

हस्तलिखित चातुर्मास तालिका में उनके अग्रणी रूप में अन्तिम दो चातुर्मास 1978 और 1979 के सुजानगढ़ मिलते हैं ।

9. उन्होंने अन्तिम समय में आजीवन तिविहार अनशन ग्रहण किया । जो बीसवें दिन पश्चिम रात्रि में सानन्द सम्पन्न हुआ । उनकी भावना बड़ी निर्मल और उत्तरोत्तर बढ़ती रही ।

सं० 1979 सावन कृष्णा 1 को सुजानगढ़ में वे समाधि मरण प्राप्त हुए ।

(ख्यात)

ख्यात तथा शासन-प्रभाकर, जय संत वर्णन गाथा 261 से 263 में भी आपके सम्बन्ध का उपर्युक्त कुछ वर्णन है ।



जैन न्याय में अनुमान और तर्क का स्वरूप

प्रा० उदयचन्द्र जैन

पृष्ठभूमि :

जैनागम में प्रमाण के दो भेद बतलाये गये हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष । प्रत्यक्ष के तीन भेद हैं—अवधि, मनःपर्यय और केवल । परोक्ष के दो भेद हैं—मति और श्रुत । जैनागम में प्रमाण पद्धति की यही प्राचीन परम्परा है । किन्तु यहाँ पर विचारणीय है कि उक्त प्रकार के भेदों में स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान का कहीं समावेश किया गया है या नहीं । हम देखते हैं कि सूत्रकार आचार्य उमास्वाति ने उनके पहले प्रचलित प्रमाण-विषयक आगमिक परम्परा में कुछ विकास करके दर्शन के क्षेत्र में तार्किक प्रमाणपद्धति को स्थापित किया है । उन्होंने उस समय में प्रचलित स्मृति, संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान), चिन्ता (तर्क) और अभिनिबोध (अनुमान) प्रमाणों का अन्तर्भाव मतिज्ञान में किया है¹ ।

इसके बाद अकलंकदेव ने इस परम्परा में कुछ और विकास किया । जैनागम में इन्द्रियजन्य ज्ञान को परोक्ष माना गया है, जबकि अन्य दार्शनिकों ने इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष माना है । अकलंकदेव के सामने इन दोनों में सामञ्जस्य स्थापित करने की समस्या थी । उन्होंने इस समस्या का समाधान बहुत ही सुन्दर रीति से किया । उन्होंने प्रत्यक्ष के मुख्य प्रत्यक्ष और सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष ये दो भेद करके इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होने वाले मतिज्ञान को सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहकर प्रत्यक्ष में सम्मिलित कर लिया । ऐसा करने से प्राचीन परम्परा की रक्षा भी हो गयी और अन्य दार्शनिकों द्वारा अभिमत प्रत्यक्ष की परिभाषा के अनुसार लोकव्यवहार की दृष्टि से सामञ्जस्य भी हो गया । अकलंकदेव ने पुनः सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष के दो भेद किये—इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष । उन्होंने मतिज्ञान को इन्द्रिय प्रत्यक्ष कहा तथा स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान इन चार ज्ञानों को अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष बतलाया² ।

प्रत्यक्ष की आगमिक परिभाषा के स्थान में दार्शनिक परिभाषा करने की भी

1. मति स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ।—तत्त्वार्थसूत्र 1/13

2. इन्द्रियार्थज्ञानमवग्रहेहावायधारणात्मकम् । अनिन्द्रिय प्रत्यक्षं

स्मृतिसंज्ञाचिन्ताऽभिनिबोधात्मकम् ।—लघीयस्त्रयवृत्ति, का० 61

आवश्यकता प्रतीत हुई। इसलिए अकलंक ने विशदज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है।¹ किन्तु आगम में इन्द्रिय और मन की अपेक्षा के बिना आत्मामात्र से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष बतलाया गया है।

अनुमान में प्रामाण्य

चार्वाक दर्शन को छोड़कर अन्य समस्त भारतीय दर्शनों ने अनुमान को प्रमाण माना है। केवल चार्वाक दर्शन ही एक ऐसा दर्शन है जिसने अनुमान में प्रामाण्य नहीं माना है। चार्वाक का कहना है कि केवल प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, क्योंकि वह अविस्वादी है, और अनुमान अप्रमाण है, क्योंकि वह विस्वादी है। आकाश में भेघ को देखकर वृष्टि का अनुमान गलत भी हो सकता है। साध्य और साधन में व्याप्ति ग्रहण के बिना अनुमान संभव नहीं है और व्याप्ति का ग्रहण प्रत्यक्ष से नहीं हो सकता है। क्योंकि वह समीपवर्ती वर्तमान पदार्थ को ही जानता है, जबकि व्याप्तिज्ञान सर्वदेशावच्छेदेन और सर्वकालावच्छेदेन होता है। इसलिए अनुमान प्रमाण नहीं है।

प्रसिद्ध बौद्धदार्शनिक धर्मकीर्ति ने चार्वाक की उक्त मान्यता का सयुक्तक खण्डन करके चार्वाक के लिए अनुमान प्रमाण की अनिवार्यता सिद्ध की है। धर्मकीर्ति ने कहा है—

प्रमाणेतरसामान्यस्थितेरन्यघियो गतेः ।

प्रमाणान्तरसद्भावः प्रतिषेधाच्च कस्यचित् ॥

यहां धर्मकीर्ति ने चार्वाक के लिए स्वभावहेतुजन्य, कार्यहेतुजन्य, और अनुपलब्धिहेतुजन्य अनुमान की अनिवार्यता सिद्ध की है।

‘प्रत्यक्षं प्रमाणमविस्वादिवात्,’ तथा ‘अनुमानमप्रमाणं विस्वादिवात्’ ऐसा कह कर चार्वाक प्रत्यक्ष में प्रमाणता और अनुमान में अप्रमाणता की सिद्धि तभी कर सकता है जब वह उक्त प्रकार से स्वभावहेतुजन्य अनुमान को स्वीकार करे। इस प्राणी में बुद्धि है, वाक् व्यापार और काय व्यापार की उपलब्धि होने से। यहां कार्यहेतुजन्य अनुमान के बिना दूसरे प्राणी में बुद्धि को सिद्ध नहीं किया जा सकता है। क्योंकि बुद्धि या चैतन्य परोक्ष धर्म हैं। चार्वाक कहता है—परलोक नहीं है, अनुपलब्ध होने से। यहां अनुपलब्धि हेतुजन्य के बिना चार्वाक परलोक का निषेध नहीं कर सकता है। इस प्रकार अनुमान में प्रामाण्य को स्वीकार किये बिना चार्वाक का काम नहीं चल सकता है। अर्थात् चार्वाक को अनुमान में प्रामाण्य मानना अनिवार्य है।

अनुमान का स्वरूप

मीयतेऽनेन इति मानं ज्ञानम् । अनुपश्चान्मानम् अनुमानम् । यह अनुमान शब्द की व्युत्पत्ति है। साध्य साधन में व्याप्तिग्रहण, सम्बन्धस्मरण और लिङ्गदर्शन के बाद में जो ज्ञान होता है वह अनुमान है। यह अनुमान शब्द का सामान्य अर्थ है जैनदर्शन में अकलंक,

१. प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं मुख्यसांव्यवहारिकम् ।

परोक्षं शेषविज्ञानं प्रमाण इति संग्रहः ॥—लघीयस्त्रय, का० ३

विद्यानन्द, माणिक्यनन्दि, हेमचन्द्र आदि आचार्यों के अनुसार अनुमान का स्वरूप इस प्रकार बतलाया गया है —

साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानम् ।¹

साधन से साध्य का जो ज्ञान होता है वह अनुमान कहलाता है। अनुमान में साध्य और साधन ये दो प्रमुख तत्त्व हैं। जिसकी सिद्धि की जाती है वह साध्य कहलाता है और जिसके द्वारा सिद्धि की जाती है वह साधन है। जैसे पर्वत में धूम को देखकर अग्नि का जो ज्ञान होता है वह अनुमान है। यहाँ धूम साधन है और अग्नि साध्य है। हर एक व्यक्ति को धूम देखने पर अग्नि का ज्ञान नहीं हो सकता है। इसकी कुछ प्रक्रिया है। धूम से वह्निका ज्ञान करने के लिए पहले धूम और वह्निका में व्याप्ति या अविनाभाव सम्बन्ध का ज्ञान होना चाहिए। इसके बाद किसी स्थान-विशेष में धूम देखने पर पूर्वगृहीत अविनाभाव सम्बन्ध का स्मरण होना चाहिए। तब धूम से वह्निका ज्ञान संभव होता है।

अनुमान के प्रकरण में साधन और साध्य का लक्षण जानना अत्यावश्यक है। आचार्य माणिक्यनन्दि ने परीक्षामुख में साधन का लक्षण इस प्रकार बतलाया है—

साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः ।²

साध्य के साथ जिसका अविनाभाव निश्चित हो वह हेतु कहलाता है। साधन, हेतु और लिङ्ग ये तीनों पर्यायवाची हैं। अविनाभाव (बिना भाव न) का अर्थ है—साध्य के बिना जिस हेतु की सत्ता संभव न हो। अग्नि की सत्ता के बिना त्रिकाल में भी धूम की सत्ता संभव नहीं है। अतः धूम का वह्निका के साथ अविनाभाव है। इसी को अन्यथानुपपत्ति भी कहते हैं। अन्यथासाध्य (अग्नि) के बिना जिस (धूम) की अनुपपत्ति अर्थात् सद्भाव न हो वह अन्यथानुपपत्ति है। इसीलिए आचार्य विद्यानन्द ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में साधन का लक्षण इस प्रकार बतलाया है—

“अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं तत्र साधनम् ।”

अर्थात् साधन वह है जिसका एकमात्र लक्षण अन्यथानुपपत्ति है।

परीक्षामुख में साध्य का लक्षण इस प्रकार बतलाया है—

इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यम् ।³

साध्य वह होता है जो इष्ट हो, अबाधित हो और असिद्ध हो। यहाँ इष्ट विशेषण वादी की अपेक्षा से है और असिद्ध विशेषण प्रतिवादी की अपेक्षा से है। वादी प्रतिवादी के लिए साध्य की सिद्धि करता है। अतः वह ऐसे साध्य की सिद्धि करेगा जो स्वयं उसे इष्ट हो। प्रतिवादी के लिए साध्य की सिद्धि तभी की जाती है जब उसे वह साध्य असिद्ध हो। जो

1. परीक्षामुख । 3/14

2. वही । 3/15

3. वही । 3/20

सिद्ध है उसकी सिद्धि व्यर्थ है। यहाँ असिद्ध से तात्पर्य संदिग्ध, विपर्यस्त तथा अव्युत्पन्न वस्तु से है¹। अर्थात् साध्य ऐसी वस्तु होती है जिसके विषय में संदेह हो, विपर्यय हो और अनध्यवसाय हो। इष्ट और अबाधित की तरह साध्य को अबाधित भी होना चाहिए। अर्थात् उसमें प्रत्यक्षादि किसी प्रमाण से बाधा नहीं आनी चाहिए। अकलंकदेव ने न्याय-विनिश्चय में और आचार्य विद्यानन्द ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में उक्त प्रकार का ही साध्य का लक्षण बतलाया है²। यथार्थ में माणिक्यनन्दि ने अकलंक देव के न्यायशास्त्र का मन्थन करके ही परीक्षामुख की रचना की और उन्हीं के वचनों का अनुसरण करके साध्य आदि का लक्षण लिखा³।

अनुमान के भेद—

जैन, बौद्ध और वैदिक परम्परा में अनुमान के दो भेद पाये जाते हैं—
स्वार्थानुमान और परार्थानुमान।

स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान का लक्षण]

स्वार्थ शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार से होती है—स्वस्मै इदं स्वार्थम्। अर्थात् जो अपने लिए होता है वह स्वार्थ है। स्वार्थानुमान में व्यक्ति परोपदेश के बिना स्वयं ही साधन से साध्य का ज्ञान करता है। इसी विषय में कहा गया है—

परोपदेशाभावेऽपि साधनात् साध्यबोधनम्।

यद्दृष्टुर्जायते स्वार्थमनुमानं तदुच्यते ॥

परार्थ शब्द की व्युत्पत्ति यह है—परस्मै इदं परार्थम्। पर के लिए साधन से साध्य का जो ज्ञान होता है वह परार्थानुमान है। परार्थानुमान में परोपदेश की या वचनों की आवश्यकता होती है। परीक्षामुख में परार्थानुमान का लक्षण निम्न प्रकार बतलाया गया है।

परार्थं तु तदर्थपरामशिवचनाज्जातम्⁴।

उस स्वार्थानुमान के विषयभूत अर्थ का परामर्श करने वाले वचनों से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे परार्थानुमान कहते हैं। ऐसा भी कहा जाता है कि स्वार्थानुमान ज्ञाना-

1. सिद्धविपर्यस्ताव्युत्पन्नानां साध्यत्वं यथा स्यादित्यसिद्धपदम्।—परीक्षामुख, 3/21

2. साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धं ततोऽपरम्।

साध्याभासं विरुद्धादिसाधना विषयत्वतः ॥—न्यायविनिश्चय, 2/3, पृ० 8-12

साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धमुदाहृतम्।—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक,

खण्ड 3, श्लोक 122, पृ० 269

3. अकलङ्कवचोऽम्भोधेरुद्दध्रेयेनधीमता ।

न्यायविद्यामृतं तस्मै नमो माणिक्यनन्दिने ॥—प्रमेयरत्नमाला,

मंगलाचरण श्लोक संख्या 2

4. परीक्षामुख, 3/55

त्मक होता है और परार्थानुमान वचनात्मक होता है। यथार्थ में बात यह है कि परार्थानुमान का कारण होने से परार्थानुमान के प्रतिपादक वचनों को भी परार्थानुमान कह दिया जाता है। वास्तव में अचेतन होने से वचन अनुमान नहीं हो सकते हैं। क्योंकि अनुमान ज्ञान रूप होता है। अतः 'अन्नं वै प्राणाः' की तरह कारण में कार्य का उपचार करके परार्थानुमान के प्रतिपादक वचनों को परार्थानुमान कह दिया जाता है। अन्यत्र परार्थानुमान के विषय में कहा गया है—

परोपदेशसापेक्षं साधनात् साध्यवदनम् ।

श्रोतुर्यज्जायते सा हि परार्थानुमितिर्मता ॥

स्वार्थ और परार्थ शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार भी की जाती है—स्वस्मादिदं स्वार्थम् । परस्मादिदं परार्थम् । येन स्वयं प्रतिपद्यते तत्स्वार्थम् । येन परं प्रतिपादयति तत्परार्थम् ।¹ स्वयं अपने से जो अनुभव होता है, वह स्वार्थानुमान है और पर से जो अनुमान होता है, वह परार्थानुमान है। अर्थात् जिसके द्वारा व्यक्ति स्वयं साध्य का ज्ञान प्राप्त करता है, वह स्वार्थानुमान है और जिसके द्वारा वह दूसरे के लिए साध्य का प्रतिपादन करता है, वह परार्थानुमान है।

अनुमान के अंग या अवयव

स्वार्थानुमान के तीन अंग होते हैं—धर्मी, साध्य और साधन। अथवा पक्ष और हेतु इस प्रकार दो अंग भी होते हैं। जहाँ साध्य सिद्ध किया जाता है उसे धर्मी कहते हैं। जैसे पर्वत में अग्नि को सिद्ध करते समय पर्वत धर्मी होता है। धर्मी को पक्ष भी कहते हैं। यथार्थ में साध्यविशिष्ट धर्मी का नाम पक्ष है। इसलिये परार्थानुमान के तीन अंग या दो अंग कहने में विवक्षाभेद ही है, अर्थभेद नहीं।

स्वार्थानुमान की तरह परार्थानुमान के भी दो अंग होते हैं—प्रतिज्ञा और हेतु। पक्ष के वचन को प्रतिज्ञा कहते हैं। जैसे 'पर्वत अग्निवाला है' यह कथन प्रतिज्ञा है। साधन के वचन को हेतु कहते हैं। जैसे 'धूमवान् होने से' ऐसा कहना हेतु है।

यहाँ यह स्मरणीय है कि नैयायिक परार्थानुमान के पाँच अवयव मानते हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। व्याप्तिपूर्वक दृष्टान्त के वचन को उदाहरण कहते हैं—यथा जहाँ धूम है वहाँ अग्नि है, जैसे भोजनशाला अथवा जहाँ अग्नि नहीं है वहाँ धूम नहीं है, जैसे तालाब। दृष्टान्त की अपेक्षा से पक्ष में हेतु के उपसंहार के वचन को उपनय कहते हैं, जैसे भोजनशाला की तरह पर्वत भी धूमवाला है। हेतुपूर्वक पक्ष के वचन को निगमन कहते हैं—जैसे धूमवाला होने से पर्वत अग्निवाला है। इस प्रकार न्याय दर्शन में परार्थानुमान के पाँच अवयव माने गये हैं।

1. न्याय बिन्दु, पृ० 21

बौद्धदर्शन के अनुसार केवल हेतु को ही अनुमान का एक मात्र अंग माना गया है ।
जैसा कि आचार्य धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक में कहा है—

तद्भावहेतुभावौहि दृष्टान्ते तदवेदिनः ।

ख्यापेते विदुषां वाच्यो हेतुरेव हि केवलः ॥¹

अर्थात् जो लोग साध्य और साधन में तादात्म्य और तदुत्पत्ति सम्बन्ध को नहीं जानते हैं उनके लिए दृष्टान्त में तादात्म्य और तदुत्पत्ति सम्बन्ध बतलाया जाता है । किन्तु उनमें सम्बन्ध को जानने वाले विद्वानों के लिए तो केवल हेतु का ही कथन करना चाहिए ।

मोक्षाकर गुप्त आदि कुछ अन्य बौद्ध दार्शनिकों ने हेतु और दृष्टान्त ये दो अवयव माने हैं, किन्तु प्रतिज्ञा, उपनय और निगमन को किसी ने नहीं माना ।

किन्तु जैसे न्याय में स्पष्ट बतलाया गया है कि विजिगीषु कथा अथवा वाद में प्रतिज्ञा और हेतु ये दो ही अवयव उपकारक होते हैं, उदाहरणादि की वहां कोई आवश्यकता नहीं है² । क्योंकि वाद विद्वान् व्यक्तियों में ही होता है । यह अवश्य स्वीकार किया गया है कि वीतराग कथा में प्रतिपाद्य (शिष्य) के आशय के अनुसार उदाहणादि अन्य तीन अवयवों का भी प्रयोग किया जा सकता है³ ।

पक्ष प्रयोग की आवश्यकता

बौद्ध परार्थानुमान में पक्ष प्रयोग को अनावश्यक मानते हैं । उनका कहना है कि हेतु प्रयोग से ही पक्ष गम्यमान हो जाता है । इस विषय में जैन दार्शनिकों का कहना है कि यदि पक्ष (पर्वत) का प्रयोग न किया जायेगा तो यह सन्देह बना रहेगा कि साध्यधर्म (वह्नि) का आधार क्या है, पर्वत या दूसरा कोई स्थल । अतः इस सन्देह को दूर करने के लिए गम्यमान भी पक्ष का प्रयोग अत्यावश्यक है । इस विषय में आचार्य माणिक्यनन्दि ने कहा है कि साध्यधर्म के आधार में सन्देह को दूर करने के लिए तथा साध्यधर्म का आधार बतलाने के लिए पक्ष का प्रयोग अवश्य करना चाहिए⁴ ।

हेतु के रूप

बौद्धों ने हेतु के तीन रूप माने हैं—पक्ष धर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्ष व्यावृत्ति । इन्हीं तीन रूपों के कारण हेतु में असिद्ध आदि तीन दोषों का निराकरण हो जाता है⁵ ।

1. प्रमाणवार्तिक, 3127

2. एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गं नोदाहरणम् ।—परीक्षामुख सूत्र, 3137

3. बालव्युत्पत्त्यर्थं तत्त्रयोपगमे शास्त्र एवासौ न वादेऽनुपयोगात् ।

—परीक्षामुख सूत्र, 3146

4. साध्यधर्माधारसन्देहापनोदाय गम्यमानस्यापि पक्षस्य वचनम् ।

—परीक्षामुख सूत्र, 3134

तेन पक्षस्तदाधारसूचनायोक्तः ।

—परीक्षामुख सूत्र, 3198

5. हेतोस्त्रिष्वपि रूपेषु निश्चयस्तेन वर्णितः ।

असिद्धविपरीतार्थव्यभिचारिविपक्षतः ॥

—प्रमाणवार्तिक, 3115

नैयायिकों ने इन्हीं में दो रूप-अबाधित विषयत्व तथा असत्प्रतिपक्षत्व और जोड़कर हेतु के पाँच रूप माने हैं। इन पाँचों रूपों के द्वारा असिद्ध आदि पाँच हेत्वाभासों का निराकरण हो जाता है।

किन्तु जैन न्याय में हेतु का केवल एक रूप ही माना गया है, वह है अन्यथानुपपत्ति। जहाँ अन्यथानुपपत्ति है वहाँ तीन अथवा पाँच रूपों की कोई आवश्यकता नहीं है और जहाँ अन्यथानुपपत्ति नहीं है वहाँ तीन रूप अथवा पाँच रूप भी व्यर्थ हैं। इस विषय में स्वामी पात्रकेसरी ने 'त्रिलक्षणकदर्शन' ग्रन्थ में कितना सुन्दर कहा है—

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ।
 नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ॥
 अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पञ्चभिः ।
 नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पञ्चभिः ॥

'उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयात्' इस अनुमान में हेतु में पक्षधर्मत्व नहीं है फिर भी अन्यथानुपपत्ति के होने से कृत्तिकोदय हेतु शकटोदय साध्य का गमक होता है। इसके विपरीत 'गर्भस्थः भ्रूततनयः श्यामः तत्पुत्रत्वात् इतरपुत्रवत्' इस अनुमान में हेतु त्रैरूप्य के रहने पर भी अन्यथानुपपत्ति के न होने से तत्पुत्रत्व हेतु श्यामत्व साध्य का गमक नहीं होता है।

हेतु के भेद

जैन न्याय में हेतु के कई भेद किये गये हैं। सर्व प्रथम हेतु के दो भेद होते हैं— उपलब्धिरूप हेतु और अनुपलब्धिरूप हेतु। उपलब्धिरूप हेतु विधि तथा प्रतिषेध दोनों का साधक होता है तथा अनुपलब्धिरूप हेतु भी दोनों का साधक होता है। विधिसाधक अविरुद्धोपलब्धि छः प्रकार की है। प्रतिषेध साधक विरुद्धोपलब्धि भी छः प्रकार की है। प्रतिषेध साधक अविरुद्धानुपलब्धि सात प्रकार की है और विधिसाधक विरुद्धानुपलब्धि तीन प्रकार की है। विस्तार के भय से यहाँ इन के उदाहरण नहीं दिये गये हैं। इन्हें जानने के लिए परीक्षामुख सूत्र देखना चाहिए।

हेत्वाभास

अनुमान के प्रकरण में हेत्वाभास का ज्ञान भी आवश्यक है। जो हेतु के लक्षण से रहित हो, किन्तु हेतु जैसा मालूम पड़ता हो, वह हेत्वाभास कहलाता है¹। बौद्ध हेतु के तीन रूप मानते हैं, इसलिए उन्होंने तीन रूपों के अभाव में क्रमशः तीन हेत्वाभास माने हैं— असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक। नैयायिकों ने हेतु के पाँच रूप माने हैं, इसलिए उन्होंने पाँच रूपों के अभाव में पाँच हेत्वाभास माने हैं—पूर्वोक्त तीन तथा कालात्यापदिष्ट (बाधित) और प्रकरणसम (सत्प्रतिपक्ष)

जैन न्याय में हेतु का एक ही रूप माना गया है इसलिए उसके अभाव में एक ही हेत्वाभास होना चाहिए था, किन्तु यहाँ चार हेत्वाभास माने गये हैं। इस विषय में अकलङ्क

1. हेतुलक्षणरहिता हेतुवदवभासमाना हेत्वाभासाः ।

देव ने न्यायविनिश्चय में कहा है कि वस्तुतः एक असिद्ध ही हेत्वाभास है। किन्तु अन्यथानुपपत्ति का अभाव अनेक प्रकार से होता है इसलिए असिद्ध, विरुद्ध, संदिग्ध और अकिञ्चित्कर के भेद से चार हेत्वाभास भी हो सकते हैं¹। एक स्थल में तो उन्होंने विरुद्ध आदि को अकिञ्चित्कर का ही विस्तार कहा है²।

जिस हेतु की सत्ता का अभाव हो अथवा जिसका निश्चय न हो उसे असिद्ध हेत्वाभास कहते हैं। इसके दो भेद हैं—स्वरूपासिद्ध और सन्दिग्धासिद्ध। जैसे, 'अनित्यः शब्दः-श्चाक्षुषत्वात्' यहाँ चाक्षुषत्व हेतु स्वरूपासिद्ध है। क्योंकि शब्द चाक्षुष न होकर श्रावण है। साध्य से विपरीत पदार्थ के साथ जिसका अविनाभाव निश्चित हो उसे विरुद्ध हेत्वाभास कहते हैं। जैसे 'नित्यः शब्दः कृतकत्वात्' यहाँ कृतकत्व हेतु विरुद्ध है। क्योंकि उसका अविनाभाव नित्य के साथ न होकर अनित्य के साथ है। जो हेतु पक्ष, सपक्ष और विपक्ष तीनों में रहता है उसे अनैकान्तिक कहते हैं। जैसे 'अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात्' यहाँ प्रमेयत्व हेतु विपक्ष (नित्य आकाश) में भी रहता है। जिस हेतु का साध्य सिद्ध हो अथवा प्रत्यक्षादि से बाधित हो उसे अकिञ्चित्कर कहते हैं। इसके दो भेद हैं सिद्ध साधन और बाधित विषय। जिस हेतु का साध्य सिद्ध होता है वह सिद्ध साधन है। जैसे 'श्रावणः शब्दः शब्दत्वात्' यहाँ शब्दत्व हेतु सिद्धसाधन है। क्योंकि शब्द में श्रावणत्व सब को सिद्ध है।

बाधित के पांच भेद हैं—प्रत्यक्षबाधित, अनुमानबाधित, आगमबाधित, लोकबाधित और स्ववचनबाधित। 'अनुष्णोऽग्निद्रव्यत्वाज्जलवत्' यहाँ द्रव्यत्व हेतु का साध्य (अग्नि में अनुष्णत्व) प्रत्यक्षबाधित है। क्योंकि अग्नि में उष्णता प्रत्यक्ष से सिद्ध है। 'प्रेत्यासुखप्रदो धर्मः पुरुषाश्रयत्वाद्धर्मवत्' यहाँ पुरुषाश्रयत्व हेतु का साध्य (धर्म परलोक में दुःख देने वाला है) आगम बाधित है। क्योंकि आगम में धर्म को परलोक में सुख देने वाला बतलाया गया है। 'शुचिनरशिरः कपालं प्राण्यङ्गत्वाच्छङ्खशुक्तिवत्'। यहाँ प्राण्यङ्गत्व हेतु का साध्य (नर के शिर के कपाल की पवित्रता) लोक बाधित है। क्योंकि लोक में उसे अपवित्र बतलाया गया है। "माता में वन्ध्या पुरुषसंयोगेप्यगर्भवत्वात् प्रसिद्धवन्ध्यावत्' यहाँ पुरुष संयोगेऽप्यगर्भवत् हेतु का साध्य (अपनी माता का वन्ध्यापन) स्ववचनबाधित है। क्योंकि यदि उसकी माता वन्ध्या होती, तो वह कहां से उत्पन्न होता।

इस प्रकार जैनन्याय के अनुसार अनुमान के विषय में कुछ विशिष्ट बातों पर यहाँ संक्षेप में प्रकाश डाला गया है।

तर्क का प्रामाण्य

पृष्ठभूमि :

जैनागम में तर्क के लिए चिन्ता और ऊहा शब्द मिलते हैं। सूत्रकार उमास्वाति ने मतिज्ञान के प्रकरण में तर्क के लिए चिन्ता शब्द का प्रयोग किया है। षट्सङ्खण्डागम में भी

1. अन्यथासंभवाभावात् स बहुधा स्मृतः।

विरुद्धासिद्धसन्दिग्धैरकिञ्चित्कर विस्तरैः ॥ न्यायविनिश्चय, 21265

2. अकिञ्चित्कारकान् सर्वान् तान् वयं संगिरामहे।—न्यायविनिश्चय, 21371

चिन्ता और ऊहा शब्द मिलते हैं ! आचारंग सूत्र में तक्का (तर्क) शब्द आया है। इसी प्रकार कठोपनिषद्¹ और ब्रह्मसूत्र² में भी तर्क शब्द मिलता है। अष्टसहस्री में भी एक श्लोक उपलब्ध होता है, जिसमें तर्क शब्द का प्रयोग किया गया है। वह श्लोक इस प्रकार है —

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना नैकोमुनिर्यस्य वचः प्रमाणम् ।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥

न्यायदर्शन में तर्क को पृथक् पदार्थ मानकर भी उसे प्रमाण नहीं माना है। न्याय सूत्र में तर्क शब्द के साथ ऊहा शब्द का भी प्रयोग किया गया है। न्यायभाष्यकार वात्स्यायन के मत से तर्क न तो प्रमाण है और न अप्रमाण, किन्तु वह प्रमाण का अनुग्राहक होता है। न्यायसूत्र में तर्क का लक्षण इस प्रकार बतलाया गया है—

अविज्ञाततत्त्वेषु कारणोपपत्तितत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः³

अविज्ञात अर्थ में सयुक्तक कारणों के द्वारा तत्त्वज्ञान के लिए जो विचार विमर्श किया जाता है वह तर्क है।

इस प्रकार तर्क के विषय में जैनेतर दर्शन और साहित्य में भी किसी न किसी रूप में विचार किया गया है, किन्तु किसी ने भी तर्क को प्रमाण नहीं माना है। यह जैनदर्शन की ही विशेषता है कि उसने तर्क को एक पृथक् प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठापित किया है।

सर्वप्रथम आचार्य अकलंक ने तर्क को व्याप्ति ग्राहक बतलाकर उसमें प्रामाण्य सिद्ध किया है। तथाहि—

प्रमाणसाधनोपायः प्रमाणान्तरगोचरः ।
व्याप्यव्यापकभावोऽयमेकत्रापि विभाव्यते ॥
सत्यप्यन्वयविज्ञाने स तर्कपरिनिष्ठितः ।
अविनाभावसम्बन्धः साकल्येनावधार्यते ॥⁴
संभवप्रत्ययस्तर्कः प्रत्यक्षानुपलभतः ।
अन्यथासंभवासिद्धे नवस्थानुमानतः ॥⁵

व्याप्तिं साध्येन हेतोः स्फुटयति न विना चिन्तयंकत्र दृष्टिः ।
साकल्येनैष तर्कोऽनधिगतविषयः तत्कृतार्थकदेशे ॥⁶

1. नैषा तर्केण मतिरपनेया ।—कठोपनिषद्, 219
2. तर्काप्रतिष्ठानात् ।—ब्रह्मसूत्र, 21111
3. न्यायसूत्र, 11130
4. न्यायविनिश्चय, 21159,160.
5. प्रमाण संग्रह, 2112.
6. लघीयस्त्रय, कारिका 59.

अकलंक भट्ट के बाद आचार्य विद्यानन्द, माणिक्यनन्द, प्रभाचन्द्र, देवसूरि, हेमचन्द्र, धर्मभूषण आदि समस्त जैन दार्शनिकों ने तर्क द्वारा ही व्याप्ति ग्रहण का समर्थन किया है।

तर्क का स्वरूप

आचार्य माणिक्यनन्द ने परीक्षामुख में तर्क का लक्षण इस प्रकार बतलाया है—

उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः¹

उपलम्भ (अन्वय) और अनुपलम्भ (व्यतिरेक) के निमित्त से होने वाले व्याप्ति के ज्ञान को ऊह अर्थात् तर्क कहते हैं। जैसे यह साधनरूप वस्तु इस साध्यरूप वस्तु के होने पर ही होती है और साध्य रूप वस्तु के अभाव में नहीं होती है। जैसे अग्नि के होने पर ही धूम होता है और अग्नि के अभाव में कभी नहीं होता है। इस प्रकार साध्य और साधन में जो व्याप्ति या अविनाभाव सम्बन्ध रहता है उसका ज्ञान तर्क के द्वारा ही होता है।

उपरि लिखित सूत्र में जो उपलम्भ और अनुपलम्भ शब्द आये हैं उनका तात्पर्य प्रत्यक्ष के द्वारा साध्य और साधन के भूयोदर्शन या अदर्शन से नहीं है, किन्तु उनमें दृढ़तर निश्चय और अनिश्चय से है। क्योंकि जो साध्य और साधन प्रत्यक्ष के विषय नहीं हैं किन्तु अनुमान या आगम के विषय हैं उनमें भी व्याप्तिज्ञान होता है। जैसे 'अस्त्यस्यप्राणिनो धर्मविशेषो विशिष्ट सुखादिसद्भावान्यथानुपपत्तेः' यहाँ धर्मविशेष (साध्य) का ज्ञान आगम से ही होता है। तथा 'आदित्यस्य गमन शक्तिसम्बन्धोऽस्ति गतिमत्त्वान्यथानुपपत्तेः' यहाँ सूर्य में गमन-शक्तिसम्बन्धरूप साध्य का ज्ञान उक्त अनुमान से ही होता है। गतिमत्त्व साधन का ज्ञान भी अनुमानान्तर से होता है। तथाहि—'आदित्यो गतिमान् भवति देशाद् देशान्तर प्राप्तिमत्त्वान्यथानुपपत्तेः देवदत्तवत्।' उक्त कथन से यह सिद्ध होता है कि कुछ साध्य और साधनों का ज्ञान अनुमान तथा आगम से होता है।

व्याप्ति का स्वरूप

तर्क के प्रकरण में व्याप्ति का स्वरूप जानना अत्यावश्यक है। क्योंकि व्याप्ति के ज्ञान का नाम ही तर्क है। व्याप्ति का ही दूसरा नाम अविनाभाव है। साध्य और साधन में गम्य-गमक भाव को बतलाने वाला तथा सब प्रकार के व्यभिचार से रहित जो सम्बन्धविशेष होता है उसी को व्याप्ति अथवा अविनाभाव कहते हैं।² और जो व्याप्ति की प्रमिति में साधकतम होता है वह तर्क नामक एक पृथक् प्रमाण है।³ श्लोकवार्तिक भाष्य में भी कहा गया है कि साध्य और साधन के सम्बन्ध में जो अज्ञान है उसकी निवृत्ति

1. परीक्षा मुख, 3111.

2. साध्यसाधनयोग्यगमक भावप्रयोजको व्यभिचारगन्धासहिष्णुः सम्बन्धविशेषो व्याप्तिरविनाभाव इति च व्यपदिश्यते।—न्यायदीपिका

3. तस्याश्चाविनाभावापरनाम्न्या व्याप्तेः प्रमितौ यत्साधकतमं तदिदं तर्कख्यं पृथक् प्रमाणमित्यर्थः।—न्यायदीपिका, 151पृ० 162.

रूप फल में तर्क ही साधकतम होता है।¹ इस प्रकार हम देखते हैं कि तर्क के द्वारा ही रूप व्याप्ति का ग्रहण होता है। धूम और वह्नि में व्याप्ति है। क्योंकि वह्नि के होने पर ही धूम होता है और वह्नि के अभाव में कभी नहीं होता है। वह्नि गम्य है और धूम गमक है। व्याप्ति का ही दूसरा नाम अविनाभाव है। अविनाभाव का अर्थ है—साध्य के बिना साधन का सद्भाव न होना। इस व्याप्ति का ग्रहण तर्क के अतिरिक्त अन्य किसी प्रमाण से नहीं हो सकता है।

कुछ लोग प्रत्यक्ष से ही व्याप्ति का ग्रहण मानते हैं। उनका ऐसा मानना ठीक नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्ष निकटवर्ती वर्तमान पदार्थ को ही विषय करता है। वह सर्वदेशावच्छेदेन और सर्वकालावच्छेदेन व्याप्ति का ग्रहण नहीं कर सकता है²। अनुमान प्रमाण से भी व्याप्ति का ग्रहण नहीं हो सकता है। यहाँ दो विकल्प होते हैं—प्रकृत अनुमान से व्याप्ति का ग्रहण होगा या अन्य अनुमान से। प्रथम पक्ष में अन्योन्याश्रय दोष आता है। व्याप्ति का ग्रहण होने पर ही प्रकृत अनुमान होगा और प्रकृत अनुमान होने पर ही व्याप्ति ग्रहण होगा यहाँ दोनों ही एक दूसरे पर निर्भर होने से अन्योन्याश्रित हैं। अन्य अनुमान से व्याप्ति का ग्रहण मानने पर उस अनुमान में भी अन्य अनुमान से व्याप्ति ग्रहण होगा। इस प्रकार इस प्रक्रिया का कहीं अन्त नहीं होगा और अनवस्था नामक दोष की प्राप्ति होगी। अतः साध्य-साधन में जो अविनाभाव या व्याप्ति है उसका ग्रहण तर्क से ही होता है, अन्य किसी प्रमाण से नहीं।

किसी ज्ञान के प्रमाण होने की कसौटी यह है कि वह अपने विषय में अविस्वादी हो। हम देखते हैं कि तर्क भी अपने विषय में अविस्वादी है। अतः प्रत्यक्षादि की तरह वह भी प्रमाण है। यदि तर्क में अविस्वादिता न हो तो अनुमान में भी वह नहीं हो सकती है। तब अनुमान भी प्रमाण कैसे होगा। प्रमाणों का अनुग्राहक होने के कारण भी तर्क प्रमाण है। प्रमाणों के अनुग्राहक होने का तात्पर्य यह है कि एक प्रमाण से प्रतिपन्न अर्थ का दूसरे प्रमाण से वैसा ही निश्चय करना। यतः प्रत्यक्षादि प्रमाणों से देशतः ज्ञात साध्य-साधन सम्बन्ध का तर्क के द्वारा साकल्येन दृढतर ज्ञान होता है, अतः प्रमाणों का अनुग्राहक होने के कारण तर्क प्रमाण है। इसी विषय में आचार्य विद्यानन्द ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में विशद प्रकाश डाला है—**तथाहि**

तर्कस्याविस्वादादोऽनुमासंवादानादपि । विस्वादादेहि तर्कस्य जातुतन्नोपपद्यते ॥

तर्कसंवादादसन्देहे निःशंकानुमितिव्रते । तदभावे न चाध्यक्षं ततो नेष्ट व्यवस्थितिः ॥

प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां सम्बन्धो देशतो गतः । साध्यसाधनयोस्तर्कात् सामस्येनेति चिन्तितम् ॥

प्रमाणविषयस्यायं साधको न पुनः स्वयम् । प्रमाणं तर्क इत्येतत् कस्यचित् व्याहृतंमतम् ॥

1. साध्यसाधनसम्बन्ध्यज्ञाननिवृत्तिरूपे हि फले साधकतमस्तर्कः ।

—श्लोक वार्तिकभाष्य, 11131115

2. स च तर्कस्तां व्याप्तिं सकलदेशकालोपसंहारेण विषयी करोति ।

सर्वोपसंहारवती हि व्याप्तिः । प्रत्यक्षस्य सन्निहित देश एव धूमाग्निसम्बन्ध-
प्रकाशनान्न व्याप्तिप्रकाशकत्वम् ।—न्यायदीपिका, 15, 16, पृ० 62,63

प्रमाणविषये शुद्धिः कथं नामाप्रमाणतः । प्रमेयान्तरतो मिथ्याज्ञानाच्चैतत्प्रसंगतः ॥

सम्यक् तर्कः प्रमाणं स्यात् तयाऽनुग्राहकत्वतः । प्रमाणस्य यथाध्यक्षमनुमानादि चाऽनुते ॥

इस प्रकार तर्क केवल प्रमाण ही नहीं है किन्तु वह प्रत्यक्षादि से भिन्न एक प्रमाण है । क्योंकि तर्क का अस्तर्भाव प्रत्यक्षादि किसी प्रमाण में संभव नहीं है । (तर्क का जो विषय है उसका ग्रहण भी अन्य किसी प्रमाण से संभव नहीं है ।) इस तरह यह निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है कि तर्क एक पृथक् प्रमाण है । तर्क प्रमाण परोक्ष प्रमाण के पाँच भेदों में से एक है । परोक्ष प्रमाण के पाँच भेद हैं—स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ।

इस प्रकार इस निबन्ध में परोक्ष प्रमाण के पाँच भेदों में से दो (अनुमान और तर्क) के स्वरूप आदि का संक्षेप में विचार किया गया है । इनका विशेष विचार प्रमेयकमलवार्तण्ड आदि ग्रन्थों से जानना चाहिये ।

—०—

एक राजा और उसके मन्त्री में विवाद छिड़ गया । मन्त्री का कहना था कि आज तो हर पति अपनी पत्नी की आज्ञा का पालन करता है । राजा ने कहा—नहीं करता है । मन्त्री बोला, तो परीक्षा कर लेनी चाहिए । परीक्षा की तिथि तय हो गई । जो पत्नी भक्त हैं, वे पहले खेमे में आवें । स्वतन्त्र बुद्धि से चलने वाले दूसरे खेमे में आवें । पहला खेमा तुरन्त भर गया । घण्टों बीत जाने पर एक व्यक्ति दूसरे खेमे में आया । राजा ने कहा—चलो, एक व्यक्ति तो आया । उससे पूछा गया कि तुम इस खेमे में किस कारण से आए ? वह बोला—मेरी पत्नी ने कहा था कि जरा ध्यान रखना; भीड़भाड़ में न फँसना ।

जहाँ यह स्थिति धर्म के क्षेत्र में घटित हो जाती है, जहाँ मन से अपना स्वामित्व समाप्त हो जाता है, वहाँ धर्म निस्तेज, शक्तिहीन और निष्प्राण बन जाता है ।

श्रीमज्जयाचार्य रचित 'झीणी चरचा'

(मूल एवं हिन्दी अनुवाद)

सम्पादक एवं अनुवादक मुनि नवरत्नमल

तेरापंथ के चतुर्थ आचार्य श्री जीतमल जी (जयाचार्य) राजस्थानी भाषा के उच्च कोटि के कवि हुए हैं। उन्होंने अपनी बहुमुखी प्रतिभा के द्वारा अविरल गति से साहित्यिक धारा प्रवाहित की। उनकी सृजन-कला, भावाभिव्यक्ति, विषय-प्रतिपादन की शैली अनूठी थी। वे बाल्यकाल (11 वर्ष की अवस्था) से ही रचना करने लग गये। उन्होंने सैद्धांतिक तात्त्विक, न्याय, ऐतिहासिक तथा आख्यान आदि विविध विषयों पर दोहे, छंद व गीतिकाओं के माध्यम से साहित्य का निर्माण किया। भगवती-सूत्र जैसे विशालकाय आगम की सुन्दर-सुन्दर राग-रागिनियों में पांचसौ 'ढाले' (गीतिकाएँ) बनाईं, जिसकी श्लोक-संख्या लगभग 60 हजार से अधिक है। उनका समग्र साहित्य लगभग तीन लाख श्लोक-प्रमाण है।

उनके द्वारा रचित 'झीणी चरचा' नामक एक लघु कृति है। उसमें उन्होंने भाव, लेश्या, आत्मा, गुणस्थान आदि गहन तत्त्वों को इतने सरस और सरल तरीके से प्रस्तुत किया है कि वह जिज्ञासु पाठक के लिए शीघ्रातिशीघ्र ग्राह्य एवं हृदय-स्पर्शी बन जाता है। इसमें कुल 17 गीतिकाएँ हैं। प्रथम गीतिका में इष्ट पुरुषों की स्मृति करके योग व लेश्या पांच भावों में कौन-सा भाव है तथा छह द्रव्य, नव तत्त्वों में कौन 2 सा द्रव्य और तत्त्व है, इस पर सुन्दरतम प्रकाश डाला गया है।

दोहा

अजर अमर वर अमल सिव, सिद्ध समृद्ध सुचंग ।

आतमीक सुख विमल धर, प्रणमुं आण उमग ॥१॥

मैं अजर, अमर, पवित्र, शुभंकर, अनुत्तरगुण-ऋद्धि--संपन्न एवं आत्मा के निर्मल सुख में रमण करने वाले सिद्ध भगवान् को हर्ष सहित नमस्कार करता हूँ।

नमो नमो नाभेय नित, मरुदेवी महा मात ।

आदिनाथ आदेसरू, वसुधा मांहि विख्यात ॥२॥

नाभि राजा व मरुदेवी माता के अगजात, पृथ्वी पर सुप्रसिद्ध, आदिम जिन ऋषभदेव को बार-बार बन्दना करता हूँ।

सिद्धारथ कुल तिलक सम, तिसलादे अंगजात ।

प्रणमुं मन वच काय कर, महावीर जगनाथ ॥३॥

सिद्धारथ कुल के तिलक, त्रिशलानन्दन, त्रिभुवन-नायक, चरम तीर्थकर महावीर को मन, वचन व काया के द्वारा प्रणाम करता हूँ ।

उत्तम गोयम गणहरू, सुधर्म जम्बू आद ।

प्रणमु वे कर जोड़नें, आंणी मन अहलाद ॥4॥

गौतम गणधर, सुधर्मा, जम्बू आदि उत्तम पुरुषों को प्रसन्न-मना, दोनों हाथ जोड़ कर नमस्कार करता हूँ ।

गणपति भिक्षु महागुणी, भारीमल ऋषराय ।

जय जश करण सुदीप गणि, प्रणमु हर्ष सवाय ॥5॥

महान् गुणों के धनी, गण के अधिनायक आचार्य भिक्षु, भारीमाल व रायचन्द्रजी (तेरापंथ के तीन आचार्य) को तथा महाविदेह क्षेत्र में विहरमान आचार्य जय जश करण और दीप (दीप जश) गणी को अत्यंत आल्हाद पूर्वक नमन करता हूँ ।

विघन टले आणंद हुवै, भजन कियां भय जाय ।

चरण ज्ञान नीं वृद्धि ह्वै, गणपति तणे पसाय ॥6॥

उक्त आराध्य देवों के भजन करने से विघन, भय दूर भाग जाते हैं तथा आनन्द की अनुभूति होती है और उनके प्रसाद से ज्ञान, चारित्र्य की अभिवृद्धि होती है ।

ज्ञान सिधु अति है अथग, चरचा विविध सुछाण ।

मुज विद्या गुरु हेम ऋष, कहुं तास सिर आण ॥7॥

ज्ञान रूपी समुद्र अथाह है, तत्त्व-चर्चा विविध प्रकार की है, उनमें से छान-बीन कर कुछ चर्चा का प्रतिपादन कर रहा हूँ । इसके लिए मेरे विद्या-गुरु मुनि श्री हेमराजजी को मैं शीघ्र चढ़ाता हूँ ।

योग अने लेश्या उभय, किसो भाव कहिवाय ।

छ द्रव्य नव तत्व माहि कुण, प्रथम ढाल रे मांय ॥8॥

योग¹ और लेश्या² कौनसा भाव³ है तथा छह द्रव्य⁴ व नव तत्त्वों⁵ में कौनसा द्रव्य व तत्त्व है, यह पहली ढाल में बतलाया गया है ।

1. काय—वाङ् मनोव्यापारो योगः—शरीर, वचन एवं मन के व्यापार को योग कहते हैं ।
2. योग वर्गणान्तर्गत द्रव्य साचिव्यात आत्म परिणामो लेश्या । योग वर्गणा के अन्तर्गत पुद्गलों की सहायता से होने वाले आत्म परिणाम को लेश्या (भाव लेश्या) कहते हैं । भाव लेश्या के योग्यपुद्गलों को द्रव्य लेश्या कहते हैं । कहीं कहीं वर्ण आदि को भी द्रव्य लेश्या कहा है । आगम तथा थोकड़ों में जो देव और नारक में लेश्या का कथन किया गया है, वह प्रायः शारीरिक वर्ण (द्रव्य-लेश्या) की अपेक्षा से है ।
3. अवस्था विशेष को भाव कहते हैंः—वे पांच हैं—औदयिक (उदय-अवस्था, निष्पन्न-भाव), औपशमिक, क्षायिक क्षायोपशमिक और पारिणामिक ।
4. गुणपर्यायाश्रयोद्रव्यम्—गुण और पर्यायों के आश्रय को द्रव्य कहते हैं । वे छह हैं—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय ।
5. पारमार्थिक वस्तु को तत्त्व कहते हैं । वे नौ हैं—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव-संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ।

लय—दलाली लालन की.....

द्रव्य भाव लेश्या द्विविध है, सूत्र भगोती मांय ।
शतक बारमें पंचमुद्देशे, निर्मल सुणो तसु न्याय ।
सुविनीत शिष आण धरे, टाले अविनीतां रो प्रसंग ।

विनय गुण वृद्धि करे ॥1॥

भगवतीसूत्र के बारहवें शतक के पांचवें उद्देशक में भगवान् ने लेश्या दो प्रकार की कहीं है:—द्रव्य लेश्या, भाव लेश्या । उसका आप लोग निर्मल न्याय सुनें ।

जो सुविनयी शिष्य प्रभु-आज्ञा को शिरोधार्य करता है, अविनयी पुरुषों के संग को छोड़ता है, वह विनय गुण की वृद्धि करता है ।

द्रव्य लेश्या छहुं अठ फर्शी छै, भाव लेश्या है जीव ।
छ द्रव्य माहि किसो द्रव्य है, किसो पदार्थ कहीव ॥सु०2॥
द्रव्य लेश्या छहुं षट् द्रव्य माहि, पुद्गल कहियै ताहि ।
नव तत्व माहि अजीव पदारथ, पुन पाप बंध नाहि ॥3॥

छहों द्रव्य लेश्याएं आठस्पर्श वाली हैं । छहों भाव लेश्याएं जीव (जीव के परिणाम) हैं ।

प्रश्न—छह द्रव्य लेश्याएं कौनसा द्रव्य और पदार्थ हैं ?

उत्तर—छहों द्रव्य लेश्याएं छह द्रव्यों में एक पुद्गल द्रव्य कहलाती है । नव पदार्थों (तत्त्वों) में एक अजीव पदार्थ है, पर पुण्य, पाप और बंध नहीं है ।

भाव लेश्या कृष्णादिक तीनू, छ द्रव्य माहि जीव ।
नव तत्व माहि जीव अरू आश्रव, जोग आश्रव कहीव ॥4॥

मिथ्यात अव्रत प्रमाद कषाय, ए चिहुं लेश्या नांय ।
जोग आश्रव पिण असुभ जोग में, अशुभ लेश्या तीनू आय ॥5॥

छह भाव लेश्याओं में कृष्णादिक तीन लेश्याएं छह द्रव्यों में एक जीव द्रव्य है, नव तत्त्वों में जीव और आश्रव (योग आश्रव) दो हैं ।

मिथ्यात्व (विपरीत श्रद्धा) अव्रत (अत्याग भाव), प्रमाद (धर्म के प्रति अनुत्साह) कषाय (राग-द्वेषात्मक तन्त्रि) इन चारों को लेश्या नहीं कहा जाता । उक्त योग आश्रव भी अशुभयोग आश्रव है, उसमें तीनों कृष्णादिक अशुभ लेश्याओं का समावेश होता है ।

तीनू जोगां में किसो जोग है, सुणियै तेहनों न्याय ।
मन वचन काया रा जोग त्रिहुं, सलेशी कह्या जिणराय ॥6॥
उत्तराध्येन अध्येन चोतीस में, त्रिहुं जोगां री अगुप्त ।
कृष्ण लेश्या ना लखण कहियै, श्री जिन वयण सुसत्य ॥7॥

जिहां सलेशी तिहां सजोगी, जोग तिहां कही लेश ।
जोग लेश्या मैं कांयक फेर छै, जाण राह्य जिण रेस ॥८॥

उक्त छहों लेश्याओं का तीनों योगों में कौनसा योग है, इसका न्याय सुनिए ।

जिनेश्वर देव ने मन, वचन, काया के तीनों योगों को सलेशी कहा है ।

उत्तराध्ययन के चौतीसवें अध्ययन में तीन योगों की अगुप्ति (खुलावट) को कृष्ण लेश्या के लक्षण बतलाये हैं । ये जिन (वीतराग) के वचन यथार्थ हैं ।

जहां सलेशी वहां सयोगी और जहां सयोगी वहां सलेशी होता है । वास्तव में योग और लेश्या में क्या अंतर है, इसका रहस्य जिन भगवान् ही जान रहे हैं ।

भाव लेश्या छ द्रव्य माहि, कहियै जीव सुचीन ।

आश्रवजीव निर्जरा निर्वद्य ' (निरवद्य) ' नवतत्वमाहि तीन ॥सु०॥११

छहों भाव लेश्याओं को छह द्रव्यों में एक—जीव और नव तत्वों में तीन—जीव, आश्रव व निर्जरा (निरवद्य) कहा गया है ।

शुभ लेश्या जो आश्रव निर्जरा, तो किसा आश्रव रे मांय ।

जोग आश्रव में शुभ लेश्या छै, निर्जरा कर्म कटे तिण न्याय ॥१०॥

पुन बंधे तिण सूं आश्रव, सुभ लेश्या कहि स्वाम ।

शुभ लेस्या सूं कर्म कटे छै, तिण सूं निर्जरा पदार्थ तांम ॥११॥

शुभ लेश्या (तेज आदिक तीन) जो आश्रव और निर्जरा है तो कौन से आश्रव में है ? शुभ लेश्या योग आश्रव (शुभ योग आश्रव) में है । उससे कर्म कटते हैं, इस दृष्टि से शुभ लेश्या निर्जरा है ।

उससे (शुभ लेश्या से) पुण्य का बंध होता है, अतः उसे आश्रव कहा है । कर्म निर्जरण की अपेक्षा से उसे शुभ लेश्या कहा है । शुभ लेश्या से कर्म भड़ते हैं, इसलिए शुभ लेश्या निर्जरा पदार्थ में है ।

शुभ अशुभ लेश्या ने कर्म लेश्या कही, शुभ अशुभ बंधंत ।

भली लेश्या ने धर्म लेश्या कही, उत्तराध्येन सिद्धंत ॥१२॥

इण न्याय निर्जरा आश्रव माहि, शुभ लेस्या त्रिहुं पाय ।

अध्येन चौतीस में अवलोकी, निपुण विचारो न्याय ॥१३॥

उत्तराध्ययन सूत्र में शुभ-अशुभ लेश्या को कर्म लेश्या कहा है और उनके द्वारा शुभ-अशुभ कर्मों का बंध होता है । शुभ लेश्या को धर्म लेश्या कहा है, इसलिए निर्जरा और आश्रव में तीनों शुभ लेश्याएं पाई जाती हैं, अर्थात् शुभ लेश्या आश्रव और निर्जरा दोनों हैं । चतुर व्यक्ति को उत्तराध्ययन के चौतीसवें अध्ययन का अवलोकन कर इस न्याय (निर्णय) पर चिंतन करना चाहिए ।

द्रव्य लेश्या छहुं किसो भाव छै, परिणामीक पिछांण ।

भाव लेश्या छहुं किसो भाव छै, सांभलीये सुविहाण ॥१४॥

भाव लेश्या कृष्णादिक तीनों, उदै परिणामीक भाव ।
किसा कर्म रो उदे निपन छै, आगल सुणोयै न्याव ॥15॥

मोह कर्म रो उदे निपन छै, असुभ लेश्या त्रिहुं व्याप ।
पाप कर्म बंधै छै एहथी, सात कर्म सूं नहीं बंधे पाप ॥16॥

तेजु पद्म भाव लेश्या ए, तीन भाव सुविहांण ।
उदे खयोपशम परिणामिक ए, सातमा ताई पिछांण ॥17॥

भाव सुकल लेश्या इम कहियै, च्यार भाव चित्त छाण ।
उदै खायक खयोपशम जाणो, वलि परिणामिक जांण ॥18॥

द्वादशमा गुणठाणा ताई, सुकल लेश्या जे पाय ।
उदै खयोपशम परिणामिक छै, खायक भाव न थाय ॥19॥

तेरसमें गुणठाणें शुक्ल-लेश्या छै ते कुण भाव ।
उदै खायक ने परिणामिक छै, निपुण विचारो न्याव ॥20॥

प्रश्न—छहों द्रव्य लेश्याएं कौनसा भाव है ?

उत्तर—एक पारिणामिक भाव है ।

प्रश्न—छहों भाव लेश्याएं कौनसा भाव है ?

उत्तर—कृष्णादिक तीनों भाव लेश्याओं में दो भाव पाये जाते हैं—औदयिक और पारिणामिक ।

प्रश्न—उक्त तीनों लेश्याएं कौनसे कर्म का उदय-निष्पन्न भाव है ?

उत्तर—तीनों अशुभ लेश्याएं मोह कर्म का उदय-निष्पन्न हैं, क्योंकि इस (मोह कर्म) से पाप कर्म का बंध होता है । शेष सात कर्मों के द्वारा पाप कर्म का बंध नहीं हो सकता ।

तेजः पद्म भाव लेश्या में तीन भाव पाये जाते हैं:—औदयिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक । ये सातवें गुणस्थान तक होती हैं ।

भाव शुक्ल लेश्या में चार भाव हैं—औदयिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक । बारहवें गुणस्थान तक जो शुक्ल लेश्या पाई जाती है उसमें तीन भाव हैं—औदयिक, क्षायोपशमिक, और पारिक्षामिक, पर क्षायिक नहीं है ।

तेरहवें गुणस्थान की शुक्ल लेश्या में तीन भाव हैं:—औदयिक, क्षायिक और पारिणामिक । विचक्षण पुरुष इसके न्याय (निर्णय) पर विचार करें ।

समचे भली भाव लेश्या ए, किसी भाव अवधार ।

उदे खायक खयोपशम परिणामी, उपशम वरजी च्यार ॥21॥

समुच्चय शुभ भाव लेश्या (तेजः, पद्म, शुक्ल) में कौनसे भाव पाये जाते हैं, पूछा जाय तो श्रौषशामिक को छोड़कर चार भाव—औदयिक, क्षायिक, क्षयोपशमिक औरपारिणामिक कहना चाहिए ।

ए उदै भाव ते किसो कर्म नो, उदे निपन कहिवाय ।
नाम कर्म नो उदे निपन छै, पुन्य बंधे तिण न्याय ॥22॥

ए खायक भाव ते किसान कर्म नो, खायक निपन कहिवाय ।
अंतराय कर्म नो खायक निपन छै, वीर्य लब्धि प्रवरताय ॥23॥

ए खयोपशम भाव ते किसो कर्म नो, खयोपशम निपन कहिवाय ।
अंतराय कर्म रो खयोपशम निपन छै, वीर्य चंचल सूं कर्म खपाय ॥24॥

प्रश्न—ये तीनों शुभ लेश्याएं औदयिक भाव हैं, तो कौन से कर्म का उदय-निष्पन्न भाव है ?

उत्तर—नाम कर्म का उदय निष्पन्न भाव है, क्योंकि इनके द्वारा पुण्य का बंध होता है ।

प्रश्न—ये क्षायिकभाव हैं तो कौन से कर्म का क्षायक-निष्पन्न भाव है ?

उत्तर—अन्तराय कर्म का क्षायक-निष्पन्न भाव है, क्योंकि इससे वीर्य (शक्ति) लब्धि की प्रवृत्ति (व्यापार) होती है ।

प्रश्न—ये क्षयोपशम भाव हैं तो कौन से कर्म का क्षयोपशम-निष्पन्न भाव है ?

उत्तर—अन्तराय कर्म का क्षयोपशम निष्पन्न भाव है, क्योंकि वीर्य की चंचलता (करण वीर्य) से ही कर्मों का क्षय होता है ।

शुभ भाव लेश्या ने धर्म लेश्या कही, तिण सूं खायक खयोपशम भाव ।
शुभ भाव लेश्या ने कर्म लेश्या कही, उदे भाव इण न्याव ॥25॥

शुभ भाव लेश्याओं को धर्म लेश्या कहा है, अतः वे क्षायिक और क्षयोपशमिक भाव हैं । शुभ भाव लेश्याओं को कर्म लेश्या कहा है, इसलिए वे औदयिक भाव हैं ।

शुभ भाव लेश्या धर्म लेश्या कही, कर्म कटे इण न्याव ।
शुभ भाव लेश्या ने कर्म लेश्या कही, पुन्य बंधे उदे भाव ॥26॥

शुभ भाव लेश्याओं से कर्म कटते हैं, इसलिए उन्हें धर्म लेश्या कहा गया है । शुभ भाव लेश्याओं से पुण्य का बंध होता है, इसलिए उन्हें कर्म लेश्या व औदयिक भाव कहा गया है ।

खायक खयोपशम भाव थी, पुन्य नहीं बंधे लिगार ।
उदे भाव सूं कर्म कटे नहीं, तिण सूं शुभ लेश्या भाव च्यार ॥27॥

क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव से किञ्चित् मात्र भी पुण्य का बंध नहीं होता, उदय भाव से कर्म का नाश नहीं होता, इसीलिए शुभ लेश्या में चार भाव पाये जाते हैं ।

शुभ भाव लेश्या ने धर्म लेश्या कही, तिण सूं खायक खयोपशम भाव ।
धर्म लेश्या सूं कर्म कटे छे, निर्जरा कही इण न्याव ॥28॥

शुभ भाव लेश्याओं को इसलिए धर्म लेश्या कहा है कि वे सायिक और क्षायोपशमिक भाव हैं । धर्म लेश्या से कर्मों का क्षय होता है, इस अपेक्षा से निर्जरा कहा गया है ।

शुभ भाव लेश्या ने कर्म लेश्या कही, तिण सूं उदै भाव कहिवाय ।
कर्म लेश्या सूं कर्म बंधे छे, इण कारण आश्रव मांय ॥29॥

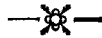
शुभ भाव लेश्याओं को कर्म लेश्या कहा है, अतः वे औदयिक भाव कहलाती हैं । कर्म लेश्या से कर्मों का बंध होता है, अतः वे आश्रव के अन्तर्गत हैं ।

अनुजोग द्वारे उदे भाव में, छहूं लेश्या कही ताम ।
उत्तराध्ययने शुभ लेश्या ने, कर्म लेश्या कही स्वाम ॥30॥

अरिहंत प्रभु ने अनुयोगद्वार सूत्र में छहों लेश्याओं को औदयिक भाव कहा है और उत्तराध्ययन सूत्र में शुभ लेश्याओं को कर्म लेश्या कहा है ।

प्रथम ढाल उगणीसै द्वादश, सुद पांचम वैशाख ।
भिवखू भारीमाल ऋषिराय प्रतापे, जय जश हरष सुभाष ॥31॥

यह प्रथम ढाल सं. 1912 वैशाख शुक्ला 5 के दिन बनाई गई है । भिक्षु, भारीमाल एवं ऋषिराय के प्रताप से जय जश (जयाचार्य) के हर्ष की अभिव्यक्ति हो रही है ।



ब्रह्मचर्यमहिंसा च क्षमाशौचतपोदमः ।
संतोषः सत्यमस्तेयं, व्रतानि तु विशेषतः ॥
एकेन व्रतहीनेन, व्रतमस्य तु लुप्यते ॥

(ब्रह्मचर्यं, अहिंसा, क्षमा, शौच, तप, दम, संतोष, सत्य और अस्तेय—ये नौ व्रत है । यदि इनमें से एक व्रत भी टूटता है तो नौ के नौ व्रत टूट जाते हैं ।)

—पद्मपुराण

तेरापंथ के तीन ऐतिहासिक स्थल

श्री भूरचन्द्र जैन

राजस्थान प्रदेश का पाली जिला ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, औद्योगिक एवं व्यावसायिक गतिविधियों के साथ धार्मिक दृष्टिकोण से भी सर्व विख्यात है, जिसकी गोद में सभी धर्म एवं सम्प्रदायों का बहुमुखी विकास हुआ है। राणकपुर, परशुराम महादेव आदि अनेकों स्थल आज भी भारत के मानचित्र पर ऐतिहासिक, धार्मिक एवं प्राचीन शिल्पकला के बेजोड़ नमूनों के लिये विख्यात है। यह तपोभूमि अनेकों ऋषि-महर्षियों, संत-महात्माओं, जैन साधु-सन्तों एवं आचार्यों की जन्म एवं कर्म-स्थली का भी सौभाग्य प्राप्त किये हुए है। जैनधर्म के अनेकों इतिहास-प्रसिद्ध श्वेताम्बर साधु एवं आचार्य महात्माओं का पाली जिले में जन्म हुआ है। उनकी त्याग एवं तपस्या, ज्ञानगरिमा, सत्य एवं अहिंसा की वाणी ने भारतीय इतिहास के अमर पृष्ठों पर अपनी अमूल्य छाप अंकित कर रखी है।

तेरापंथ के जन्मदाता तथा तेरापंथ के प्रथम आचार्य भिक्षु—भीखण जी—का जन्म पाली जिले के कंटालिया ग्राम में संखलेचा गोत्र के शाह बल्कू की धर्म पत्नी श्रीमती दीपांबाई की कोख से वि० सं० 1783 आषाढ़ शुक्ला 13 को हुआ था। जन्म से पूर्व इनकी माता ने स्वप्न में सिंह देखा था। आज भी कंटालिया गाँव का वह साधारण मकान जहाँ आचार्य भिक्षु का जन्म हुआ था, ऐतिहासिक निधि समझा जाता है, जिसका साधारण प्रवेश द्वार है, और आंतरिक भाग की एक प्राचीर पर माता द्वारा स्वप्न में देखे सिंह की आकृति को चित्रित किया हुआ है। इस प्राचीन इमारत की जगह नवीन निर्माण-कार्य करवाया जा रहा है। इस जन्म स्थल के पास ही एक आधुनिक धर्मशाला 'श्री भिक्षु कल्याण केन्द्र' के नाम से बनी हुई है।

आचार्य भिक्षु ने वि० सं० 1808 मार्गशीर्ष कृष्णा 12 को पाली जिले के ऐतिहासिक स्थल बगड़ी में स्थानकवासी आचार्य रघुनाथ से द्रव्य-दीक्षा ली और इन्हीं से सैद्धान्तिक मत-भेद होने पर वि० सं० 1817 चैत्र शुक्ला 9 को आप इनसे पृथक हो गये थे। बगड़ी बस्ती के बाहर ठाकुर जैतसिंह की छतरी पर जहाँ आचार्य श्री भिक्षु सैद्धान्तिक मतभेदों के कारण स्थानकवासी जैन संघ से पृथक हुए थे, उस स्थल पर स्मृति स्वरूप एक शिलालेख विद्यमान है, जिसके पास ही वि० सं० 2017 चैत्र शुक्ला नवमी, 5 अप्रैल 1960 को अणुत्रत आन्दोलन के प्रवर्तक युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी के पदार्पण के अवसर पर दो शताब्दी पूर्व उठाये क्रांति-

कारी चरण की स्मृति में एक छोटे स्तम्भ पर एक शिलालेख भी अंकित किया गया है। यह स्थल भी आजकल पाली जिले का ऐतिहासिक एवं दर्शनीय स्थल बना हुआ है।

स्थानकवासी आचार्य श्री रघुनाथ से सैद्धान्तिक मतभेद से आचार्य भिक्षु सहित तेरह साधु अलग हो गये थे। वि० सं० 1817 में आषाढ पूर्णिमा को आचार्य भिक्षु ने मेवाड़ के केलवा गांव में स्वयं ही दीक्षा ग्रहण की। जनता ने इन तेरह साधुओं को तेरापंथ से सम्बोधित करना आरम्भ किया, जबकि स्वयं आचार्य भिक्षु इसे “हे ! प्रभो। यह तेरापंथ” से सम्बोधित किया करते थे। तभी से श्वेताम्बर जैन संघ के मूर्तिपूजक, स्थानकवासी पंथ के पश्चात् तेरापंथ का शुभारम्भ हुआ।

आचार्य श्री भिक्षु का स्वर्गवास वि० सं० 1860 भाद्रवा शुक्ला तेरस को पाली जिले के सिरियारी गांव में हुआ। जहाँ आपका दाह-संस्कार किया उस स्थल पर एक स्मारक स्वरूप संगमरमर के पाषाणों का विशाल समचौरस चबूतरा बना हुआ है। जिस पर—हे। प्रभो। यह तेरापंथ, स्वस्तिक एवं आचार्य भिक्षु शब्द लिखे हुए हैं। चबूतरे की नीचे की खड़ी दीवारों पर आचार्य भिक्षु की जन्म कुण्डली, जन्म परिचय, निराकांक्षी भिक्षु, भिक्षु वाणी, संघ को अंतिम सन्देश, भिक्षु की रचनाएँ, विहार क्षेत्र, चार्तुमास आदि की विस्तृत जानकारी भी अंकित की हुई है। इसी स्मारक पर दया, धर्म एवं दान सम्बन्धी उपदेश भी विद्यमान है।

यह स्मारक सिरियारी गांव के बाहर बरिसाती बहने वाली नदी के किनारे, पहाड़ों की ओट में विशाल चारदीवारी के बीच श्री श्वेताम्बर तेरापंथ स्मारक समिति द्वारा संचालित रसायन शाला भवन के सामने बना हुआ है। इस ऐतिहासिक स्मारक का प्रवेश द्वार पूर्वाभिमुख है।

श्री श्वेताम्बर जैन तेरापंथ के जन्मदाता आचार्य श्री भिक्षु का जन्म, दीक्षा एवं स्वर्गवास राजस्थान के पाली जिले में क्रमशः कंटालिया, बगड़ी एवं सिरियारी गांव में होने के कारण, ये स्थल आजकल ऐतिहासिक स्मारक बने हुए हैं, जिसकी ऐतिहासिकता के कारण प्रतिवर्ष हजारों यात्री यात्रा भी करते हैं। स्वयं आचार्य श्री भिक्षु ने अपने जन्म स्थल कंटालिया में वि० सं० 1824 एवं 28 में, क्रांतिकारी कदम उठाये गए स्थल बगड़ी (सुधरी) में वि० सं० 1827, 30 एवं 36 में और स्वर्गारोहण-स्थल सिरियारी में वि० सं० 1819, 22 29, 39, 42, 51 एवं 1860 में चार्तुमास किये। सिरियारी में तेरापंथ के जन्मदाता आचार्य भिक्षु के वि० सं० 1860 भाद्रवा शुक्ला 13 को स्वर्गवास होने पर इनके शिष्य श्री भारीमाल तेरापंथ का दूसरे आचार्य हुए। जहाँ इन्होंने वि० सं० 1872 का चार्तुमास किया। इन दो श्वेताम्बर तेरापंथ के आचार्यों के अतिरिक्त तेरापंथ के किसी भी अन्य आचार्यों ने इन तीनों स्थानों पर अपना चार्तुमास नहीं किया।

तेरापंथ द्वारा मनाये जाने वाला मर्यादा महोत्सव भी पाली जिले के इन ऐतिहासिक स्थलों में वि० सं० 1922 में इस पंथ के चौथे आचार्य श्री जीतमल जी द्वारा आचार्य भिक्षु

की जन्म स्थली कंटालिया में मनाया गया । इसी पंथ के अष्टम आचार्य श्री कालूराम जी द्वारा भी बगड़ी—सुधरीमें वि० सं० १९९१ का मर्यादा महोत्सव मनाया गया । वर्तमान आचार्य श्री तुलसी ने वि० सं० 2010 में राणावास में मर्यादा महोत्सव मनाया । इन कारणों से भी श्वेताम्बर तेरापंथ के इन ऐतिहासिक एवं धार्मिक स्थानों का महत्व स्वाभाविक ही है ।

इसकी महत्ता बनी रहे, इसके लिये यहां मानव कल्याण सम्बन्धी रचनात्मक गति-विधियों का शुभारम्भ किया जाना अपेक्षित है ।

— + —

छतरी सिर पर थी । उसे घमण्ड हो गया था । उसने कहा—मैं सिर को धूप तथा सर्दों से बचाती हूं । मैं बड़ी हूं । उसने अपने अहं को प्रकट कर दिया । सिर ने कहा—छतरी, तुम ठीक कहती हो । तुम गर्मी और सर्दों से मेरी रक्षा करती हो, परन्तु यह बताओ कि तुमको बनाया किसने ? तुम्हारा निर्माण भस्तिष्क ने ही किया है । किसी गाय-बकरी ने तो किया नहीं ।

परम्पराएं सत्य पर आधारित होती हैं । यदि सत्य को हटा दिया जाय तो परम्परा का मूल्य ही क्या रह जाता है ?

×

×

×

एक राजा ने खूब अच्छा-सा तालाब बनवाया । मन्त्री लोग एकत्रित हुए । सबने तालाब की भूरि-भूरि प्रशंसा की । सर्व सम्मति से निश्चय किया गया कि इस तालाब को दूध से भरा जाय । राज्यभर में घोषणा कर दी गई कि हर परिवार इसमें एक-एक लोटा दूध अनिवार्यतः डाले । एक व्यक्ति ने सोचा कि लाखों परिवार दूध डालेंगे । यदि मैं एक लोटा पानी डालूं तो क्या अन्तर पड़ेगा ? यह सोच कर उसने एक लोटा पानी डाल दिया । दूसरे दिन राजा एवं मन्त्रीगण तालाब के किनारे एकत्रित हुए । तालाब पानी से लबालब भरा था । स्थिति यह बनी कि जैसे एक व्यक्ति ने पानी डालने का सोचा, वैसे ही सभी ने सोच लिया ।

+

+

+

स्थानांग सूत्र में आठ ऐसे कारण बताए गए हैं, जिनसे व्यक्ति आलोचना नहीं करता, प्रतिक्रमण नहीं करता, उनसे दूर होने का संकल्प नहीं करता । (१) मैंने अकरणीय कार्य किया है, अब क्या आलोचना करूं ? (२) मैं दोष का सेवन कर ही रहा हूं । (३) अभी भी करूंगा । (४) आलोचना करूंगा तो अपकीर्ति होगी । (५) मेरा अपयश होगा । (६) अविनय होगा । (७) गुरुसोचेंगे कि इसे विनीत समझा था, परन्तु अविनीत निकला । (८) प्रायश्चित्त करूंगा तो अर्जित प्रतिष्ठा समाप्त हो जायगी । ये कारण व्यक्ति को प्रायश्चित्त न करने की ओर प्रेरित करते हैं ।

जैन हिन्दी कवियों की अलंकार-योजना

डा० महेन्द्र सागर प्रचंडिया

अभिव्यक्ति के प्रमुख उपकरणों में अलंकार-योजना का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैन कवियों की हिन्दी-काव्य-कृतियों से अलंकारों का व्यवहार सहजरूप में हुआ है। हिन्दी जैन काव्य-कृतियों में अलंकार-व्यवहार की स्थिति निम्न प्रकार रही है। यथा

1. साधारण रूप में अलंकार व्यवहार
2. प्रचुरतापूर्वक अलंकार व्यवहार
3. वस्तु विश्लेषण के अनुसार अलंकार व्यवहार

कवि को जहाँ वस्तु का याथातथ्य वर्णन करना अभीष्ट रहा है, वहाँ अलंकारों का व्यवहार साधारण रूप में हुआ है। ऐसी स्थिति में समतामूलक अलंकारों को ही गृहीत किया गया है। मध्यकालीन जैन हिन्दी काव्य-कृतियों में विविध अलंकार के दर्शन सहज में हो जाते हैं। इन प्रयोगों में कवि-ज्ञान प्रमाणित करने के उद्देश्य से अलंकारों की भरती नहीं हुई है अपितु काव्य-शास्त्रीय मर्यादानुमोदित अलंकारों को गृहीत किया गया है। वस्तु विश्लेषण के अनुसार अलंकारों का व्यवहार कवि की दूरदर्शिता का परिचायक रहा है। केवयिता अपने कथन को जनसाधारण तक पहुंचाने के लिए यदि अमुक अमुक अलंकारों के प्रयोग आवश्यक अनुभव करता है तो तत्कालीन व्यवहृत उपमानों को यथास्थान गृहीत किया गया है।

मूलतः जैन कवि, मुनि, आचार्य, भट्टारक तथा ब्रह्मचर्यजन रहे हैं। गृह-वासी जैन कवियों की संख्या अधिक नहीं रही किन्तु ऐसे लोग जैन धर्म के विद्वान् तथा शास्त्र-स्वाध्यायी अवश्य रहे हैं। हिन्दी कवियों की भांति उन्हें कोई राज्याश्रय नहीं मिला और नहीं किसी श्रेष्ठि अथवा ठिकानाश्रित उनका पोषण ही हुआ। जो राज्याश्रय में रहे भी हैं उन्होंने धर्म प्रचार तथा जन कल्याण के अतिरिक्त अन्य विनोद परक काव्य सृजन नहीं किया। ऐसे कविगण अधिकांशतः आचार्य, मुनि संघों तथा भट्टारकों के संघटन के अन्तर्गत ही रहे हैं। आचार्य मुनि भट्टारक तथा ब्रह्मचारी गण प्रायः पद-यात्री होते थे और वे लोग वर्षा-वास में चार-पाँच महीने एक सुसम्पन्न स्थान पर प्रवास करते जहाँ उनके द्वारा शान्तिपूर्वक देखा-समझा गया तथ्य तथा सत्य काव्य में अभिव्यंजित किया जाता।

दूसरे प्रकार के वे कविगण हैं जिनका सारस्वत जीवन शैली-संगठन द्वारा परिपोषित होता रहा। मध्यकाल में जैन कवियों की एक विश्रुत शैली का उल्लेख मिलता है जिसे

तत्काल में 'सैली' के नाम से सम्बोधित किया जाता था। इस 'काव्य-सैली' के सक्रिय सदस्यों में पंडित बनारसीदास जैन, भय्या भगवतीदास, भूधरदास, वृन्दावनदास तथा पंडित दौलतराम उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार दिल्ली, जयपुर, ईडर, जैसलमेर आदि स्थानों में इन कवियों के संगठनों का उल्लेख मिलता है। इन सैलियों के नैतिक कार्यक्रमों में शास्त्र-स्वाध्याय तथा तात्त्विक चर्चाओं का विवेचन मुख्य है। भट्टारक सम्प्रदाय के कवियों की देशव्यापी अनेक गद्दियाँ रही हैं जहाँ से वे अपने क्षेत्र के समाज में धर्म-प्रचार की बागडोर संभाला करते हैं। इस प्रकार हिन्दी के राज्याश्रित कवियों की विचारधारा और इन जैन हिन्दी कवियों की विचारधारा में कोई समानता परिलक्षित नहीं होती।

राज्याश्रित हिन्दी कवियों ने संस्कृत आचार्यों के द्वारा प्रणीत काव्य-शास्त्र का अध्ययन किया तथा आवश्यकतानुसार कतिपय हिन्दी कवियों ने आचार्य ग्रन्थों का प्रणयन भी किया और उन्होंने जिस काव्य का सृजन किया है, उसमें काव्य शास्त्रीय लक्षण सहज में देखे जा सकते हैं।

हिन्दी के राज्याश्रित कवियों की भांति हिन्दी जैन कवियों का काव्य सृजन का लक्ष्य मात्र राज्य-वंदना तथा लोक-रंजन ही नहीं रहा अपितु इन कवियों के सम्मुख जैन धर्म तथा प्राणी मात्र के कल्याणपरक धार्मिक बातों को काव्य शैली में सरलता पूर्वक अभिव्यक्त करना रहा है। इसलिए इनके काव्य का स्वरूप तत्कालीन राज्याश्रित कवियों की नाईंभिन्न प्रतीत होता है। इसके अर्थ यह नहीं है कि इन कवियों को लोक-चित्तानुरंजन का ध्यान ही नहीं था। इन कवियों की काव्याभिव्यक्ति में तत्कालीन प्रचलित अभिव्यक्तिगत सभी उपकरणों को सम्मिलित किया गया है। अलंकारों के प्रयोग के विषय में भी यही सत्य चरितार्थ रहा है। यहाँ इन कवियों द्वारा प्रयुक्त नाना अलंकारों को हम काव्य शास्त्रीय निकष के आधार पर निम्न वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। यथा

1. उच्चतम
2. उच्चतर
3. उच्च

उच्चतम कोटि में परिगणित किए जाने वाले अलंकारों के नाम निम्न प्रकार हैं—

अनुप्रास, यमक, दृष्टान्त, उपमा, रूपक, पुनरुक्ति प्रकाश, श्लेष, व्यतिरेक, संदेह और उत्प्रेक्षा। इसके अतिरिक्त समासोक्ति, काव्यालिंग, अनन्वय, वीप्सा, विरोधाभास, उल्लेख आदि अनेक अलंकार साधारणतः गृहीत हुए हैं। यद्यपि इन अलंकारों के प्रयोग में चाहे शास्त्रीय तकनीक का सम्यक् उपयोग न हुआ हो तथापि भावाभिव्यक्ति में कोई बाधा नहीं आने पाई है।

पन्द्रहवीं शती से लेकर सोलहवीं शती तक अलंकार-बहुल काव्य प्रायः नहीं रचे गए। सोलहवीं शती तक अनुप्रास, उपमा, रूपक तथा पुनरुक्ति प्रकाश जैसे अलंकारों के प्रयोग सफलतापूर्वक हुए हैं। अब यहाँ प्रत्येक अलंकार का शताब्दिक्रम से इस प्रकार अध्ययन करेंगे कि जैन हिन्दी काव्य में उनके प्रयोग की स्थिति का सम्यक् उद्घाटन हो सके।

अनुप्रास :—पन्द्रहवीं शती के राजशेखर सूरि, मेरुनन्दन उपाध्याय, सोलहवीं के ज्ञान-भूष, सत्रहवीं के कुशल लाभ, बनारसीदास, अठारहवीं के भैरव्या भगवतीदास और उन्नीसवीं शती के कविवर बुधजन द्वारा अनुप्रासों का सफल प्रयोग उल्लेखनीय है। कविवर भैरव्या भगवतीदास द्वारा अनुप्रासों का शास्त्रीय प्रयोग हिन्दी में अनूठा माना जायगा।¹

यमक अलंकार का प्रयोग जैन हिन्दी काव्य में आरम्भ से ही हुआ है। पन्द्रहवीं शती के राजशेखर सूरि, सत्रहवीं शती के यशोविजय उपाध्याय, पंडित बनारसीदास, अठारहवीं के जिनरंग सूरि और उन्नीसवीं के कविवर वृन्दावनदास के नाम उल्लेखनीय हैं जिन के काव्यों में यमक अलंकार का सफल प्रयोग हुआ है। वीर रस प्रधान हिन्दी काव्याभिव्यक्ति में जो स्थान महाकवि भूषण को प्राप्त है उसी प्रकार जैन हिन्दी कवियों में भैरव्या भगवतीदास अपनी आध्यात्मिक अभिव्यंजना में यमक अलंकार के प्रयोग में सिद्धहस्त रहे हैं।² आप यमक अलंकार के चक्रवर्ती माने जाते हैं।³

दार्शनिक अभिव्यंजना को सरल सुगम बनाने के लिए जैन हिन्दी कवियों द्वारा दृष्टान्त अलंकार को गृहीत किया गया है। सत्रहवीं शती के महाकवि बनारसीदास दृष्टान्त

1. कटाक कर्म टोरिके छाटांक गांठ छोरिकै,
पटाक पाप मोर के तटाक दे मृषा गई।
घटाक चिन्ह जान के भटाक होय आन के,
नटाक नृत्य मान के खटाकि ने खरी ठई ॥
घटा िं घोर फारिकै तटाक बंध टार के,
अटाके राम धारिकै रटाक राम की जई।
गटाक शुद्ध पानको हटाक आन आन को,
घटाक आप धान को सटाक एयो बधू लई ॥
कुपंथ-सुपंथ पचीसिका, भैरव्या भगवतीदास
2. एक मतबाले कहें अन्यमतबारे सब,
एक मतबारे पर बारे मत सारे हैं।
एक पंच तत्त्व वारे एक-एक तत्त्व वारे,
एक मत भ्रमवारे एक-एक न्यारे हैं।
जैसे मतवारे बकैं तैसे मतवारे बकैं,
तासों मतवारे तकैं बिना मतवारे हैं।
शान्ति रस वारे कहें मृतकों निवारे रहे,
तेई प्राण प्यारे रहें और सब बारे हैं ॥
ब्रज-बिलास, भैरव्या भगवतीदास
3. जैन कवियों के हिन्दी काव्य का काव्य-शास्त्रीय मूल्यांकन, पृष्ठ 94, (पीसिस)

—डा० महेन्द्र सागर प्रचंडिया,

अलंकार के वस्तुतः रत्नाकर कहे जाते हैं।⁴ आपके काव्य में व्यवहृत दृष्टान्त अलंकार अन्य-तम गुण रहा है, लोक बोध और उसके साथ अर्थ की स्पष्टता।⁵ कविवर बृचराज, ज्ञान भूषण, कविवर बुधजन, दानतराय आदि कवियों द्वारा दृष्टान्त अलंकार का सफल प्रयोग द्रष्टव्य है।

उपमा अलंकार का प्रयोग आरम्भ से ही हुआ है, किन्तु उसका व्यवस्थित रूप हमें सोलहवीं शती में परिलक्षित होता है। कविवर ज्ञानभूषण द्वारा पूर्ण तथा लुप्तोपमा के प्रसंग में आदर्श की स्थापना हुई है। सत्रहवीं शती के बनारसीदास, अठारहवीं के भैया भगवती-दास, मेरुनन्दन उपाध्याय, जिनहर्ष, ध्यानतराय विनोदीलाल तथा बुधजन के द्वारा उपमा अलंकार का सुन्दर प्रयोग हुआ है। कवि ने यौवन धन के धर्म (क्षणभंगुरता) को नवीन उपमान करतल नीर का जिमि वाचक के साथ पूर्णोपमा का सुन्दर प्रयोग किया है।⁶

जैन कवियों की हिन्दी कविता में रूपक अलंकार का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। यह उनका प्रिय अलंकार माना जाता है। कविवर सधारू, मेरुनन्दन, जयसागर, बनारसीदास, भूधरदास, तथा विनोदीलाल सांगरूपक अलंकार के प्रयोग में उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त कविवर जिनदास, शुभचन्द्र कुमुदचन्द्र, द्यानतराय, भागचन्द्र आदि कवियों द्वारा रूपक अलंकार के काव्य में सफल प्रयोग हुए हैं।⁷

4. वहीं, पृष्ठ 206, डा० प्रचंडिया,

5. जैसे निसिवासर कमल रहें पंक ही में,
पंकज कहावै पै न वाकै द्विग पंक है।
जैसे मंज वादी विषधर सों गहावे गात,
मंज की सकति वाकै बिना विष डंक है।
जैसे जीभ गहै चिकनाई रहै रूखो अंग,
पानी में कनक जैसे काई सौ अटंक है।
तैसे ज्ञानवंत नाना भांति करतूति ठाने,
किरिया को भिन्न मानै यातै निकलंक है ॥

—समयसार नाटक, बनारसीदास।

6. आहो आयु कमल दल सम, चंचल चपल शरीर।

यौवन धन इव अधिर करम जिमि करतल नीर ॥

—आदीश्वर फागु, भट्टारक ज्ञानभूषण

7. साची तो गंगा यह वीतराग वानी।

अविच्छन्न धारा निज धर्म की कहानी ॥

जाते अति ही विमल अगाध ज्ञान-पानी।

जहां नहीं संशयादि-पंक की निशानी।

सप्तभाग जहं तरंग उछलत सुखदानी।

संतचित्त मरालवन्द रमे नित्य ज्ञानी ॥

—पद, राग, चर्चरी, भागचन्द्र

कथन में पुष्टता उत्पन्न करने के लिए कवियों द्वारा पुनरुक्ति प्रकाश अलंकार का प्रयोग द्रष्टव्य है। भक्त्यात्मक भावना में पुनरुक्ति कथन से ही शोभा की प्राप्ति हुई है। यही कारण है कि इन कवियों की हिन्दी काव्यकृतियों में पुनरुक्ति प्रकाश अलंकार का प्रयोग पन्द्रहवीं शतीसे ही परिलक्षित होता है। काव्य में संगीत और लयता के सफल संचरण की दृष्टि से इस अलंकार का प्रयोग सर्वथा उल्लेखनीय रहा है। इस दृष्टि से कविवर बृन्दावन-दास विरचित पूजा-काव्य-रूप में पुनरुक्ति प्रकाश अलंकार के शुभ दर्शन होते हैं।⁸

काव्य के उभय पक्ष-शब्द और अर्थ-में उत्कर्ष उत्पन्न करने का श्रेय मूलतः श्लेष अलंकार के व्यवहार पर निर्भर करता है। हिन्दी की जैन काव्यकृतियों में श्लेष अलंकार का सफल व्यवहार दृष्टव्य है। कविवर भगवतीदास के परमात्म शतक में 'तारे' और 'धन' शब्दों में श्लेष का चमत्कार उल्लेखनीय है।⁹

अपनी बात को परमोत्कृष्ट प्रमाणित करने के लिए इन कवियों को व्यतिरेक अलंकार की आवश्यकता हुई। इसी उद्देश्य से प्रभावित होकर इन कवियों द्वारा रचित काव्य में व्यतिरेक अलंकार का व्यवहार दृष्टव्य है। कविवर विनोदीलाल ने नाभिनन्दन की बन्दना करते हुए व्यतिरेक अलंकार के सफल व्यवहार से अपनी भक्त्यात्मक भावना अभिव्यक्त की है, जिसमें करोड़ों रविकिरणों तथा कामदेव हीन से प्रतीत हो उठे हैं।¹⁰

इन कवियों ने अन्य अनेक अलंकारों की भांति सन्देह अलंकार का भी आरम्भ से ही प्रयोग किया है। सत्रहवीं शती के रूपचन्द्र जी द्वारा पद साहित्य में सन्देह अलंकार का प्रयोग आदर्श की स्थापना करता है।¹¹

8. ज्ञानं ज्ञानं ज्ञानं ज्ञानं,
सुरलेत तहां तननं तननं ।
धननं धननं धनघंट बजे,
दूमदं दूमदं मिरदंग सजे ॥

—भगवान वर्द्धमान जिन पूजा, बृन्दावनदास

9. वीतराग कीन्हों कहा ? को चन्दा की सैन ।
धाम द्वार को रहत है, तारे सुन सिखबैन ॥

—परमात्म शतक, भैरव्या भगवतीदास ।

10. जाके चरणारविन्द पूजित सुरिन्द इन्द देवन के वृन्द चन्द शोभा अतिभारी है ।
जाके नखपर रवि कोटिन किरनवारे मुख देखे कामदेव शोभा छवि हारी है ॥
जाकी देह उत्तम है दर्पन सी देखियन अपनो सरूप भवसात की विचारी है ।
कहत विनोदीलाल मनवचनतिहूंकाल ऐसे नाभिनन्दन कूं बन्दना हमारी है ॥

—चतुर्विंशति जिन स्तवन, विनोदीलाल

11. किधों जीव वधू कियो किधों, हम बोल्यो मृषा नीति विचारी ।
किधों पर-द्रव्य हरो तृष्णावस किधों परमनर तर निहारी ॥
किधों बहुत आरम्भ परिग्रह कहजू हमरि दृष्टि पसारी ।
किधों जुवा मधु मांस रम्यो, किधों वित्त-बधू चित्तधारी ॥

—पद संग्रह, कवि रूपचन्द्र ।

उत्प्रेक्षाओं का प्रयोग वर्ण्य विषय के चित्रण की अनिवार्यता को दृष्टि में रखकर किया गया है। तीर्थकरों, तीर्थों तथा अन्य प्रसंगों में अलौकिक भावनाओं की अभिव्यंजना के लिए इस अलंकार का प्रचुर प्रयोग हुआ है। उत्प्रेक्षालंकार के सिद्ध कवि हैं सधार और हीरानन्द।⁴²

इसके अतिरिक्त अनेक अलंकारों के सफल प्रयोग जैन कवियों के हिन्दी काव्यों में परिलक्षित है। सहोक्ति, विनोक्ति, तथा अन्योक्ति अलंकारों के प्रयोग भी निराले ही कहे जाएंगे। इसी प्रकार अनन्वय, विरोधाभास की स्थिति रही है। आध्यात्मिक तथा दार्शनिक अभिव्यक्ति में जहाँ विचारों की गम्भीरता और विराटता की अभिव्यंजना हुई है, वहाँ काव्यकला चाहे भले ही उभर कर न आयी हो, किन्तु विचारों की अभिव्यंजना में इन अलंकारों का सहयोग सर्वथा स्तुत्य कहलाएगा।

जैन कवियों ने काव्य में अर्थोत्कर्ष के लिए केवल शब्द-अर्थ परक अलंकारों का ही प्रयोग नहीं किया है अपितु उन्होंने चित्रालंकारों का भी सफल प्रयोग किया है। इस दृष्टि से कविवर भैरव भगवतीदास का उल्लेखनीय स्थान रहा है।

— 0 —

चार व्यक्ति एक सन्त के पास पहुंचे। वे सन्त के सान्निध्य में साधना करना चाहते थे। सन्त ने कहा कि मैं देखूंगा कि तुम पात्र हो या नहीं। अभी तुम मौन हो जाओ और जब तक मैं न कहूं, मौन रखना। एक घंटा बीता। दो बीते। तीसरा घंटा प्रारम्भ होते ही एक व्यक्ति बोला—अंधेरा छा गया है। दूसरा बोला—अभी अंधेरा कहां? तीसरा बोला—तुम दोनों ने मौन भंग कर दिया। चौथा बोला—मैं तो नहीं बोला। प्रथम दो प्रमादी थे। उनसे बोले बिना न रहा गया। तीसरा चौथा परदोषदर्शी थे।

12. तिन में नस्तंत अमरांगना, हाव-भाव विधि नाटक बना।

चंचल चपल सोम विजुली, मनु सोभा घन विचि उछली ॥

— समवशरण की शोभा, पं. हीरानन्द।

शोध प्रबन्ध का सार :

वादिराजसूरि कृत पार्श्वनाथचरित का समीक्षात्मक अध्ययन¹

—डॉ० जयकुमार जैन

संस्कृत साहित्य का विशाल भाण्डार प्राचीन काल के तीन प्रमुख सम्प्रदायों—वैदिक, जैन और बौद्ध के मनीषियों की सेवा से समृद्ध हुआ है। इसलिए भारतीय संस्कृति के वास्तविक मूल्याङ्कन के लिए तीनों धाराओं से समाहृत साहित्य का विवेचन अपरिहार्य है। एक विशिष्ट भारतीय सम्प्रदाय के रूप में जैनों ने संस्कृत की महत्त्वपूर्ण सेवा की है, इस विषय में सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान् डॉ० एस० विन्टरनिट्ज़ ने जो लिखा है, वह स्मरणीय है—

“I was not able to do justice to the literary achievements of the Jainas. But I hope to have shown that the Jainas have contributed their full share to the religious, ethical and scientific literature of ancient India.”²

विद्वान् समीक्षक की इस उक्ति से स्पष्ट है कि संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में जैनों की देन का पूर्ण आकलन करना आवश्यक है और यह कार्य आज तक वांछित रूप में नहीं हुआ है। ईसा की द्वितीय शताब्दी से लेकर जैन कवि निरन्तर काव्य-सर्जना में संलग्न हैं। किन्तु हम देखते हैं कि पाश्चात्य विद्वान् वेबर, मेकडॉनल तथा कीथ आदि ने अपने संस्कृत साहित्य के इतिहासों में इनका नाममात्र का उल्लेख किया है, जबकि वास्तविकता यह है कि संस्कृत साहित्य में जैनों की देन का और भी अधिक महत्त्व है, क्योंकि ये कवि पाली की परम्परा के बाहक बौद्धों की तरह प्राकृत की परम्परा को साथ लेकर संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में प्रविष्ट हुए हैं। फलतः इनके अध्ययन से संस्कृत भाषा की व्यापकता, प्रयोग प्रचुरता, भावगरिमा एवं आलंकारिक सिद्धान्तों की नई परीक्षा संभव है।

साम्प्रदायिक भेदबुद्धि के कारण संस्कृत साहित्य का एक विशाल अंश अब तक उपेक्षित पड़ा है, जिसमें से वादिराजसूरि कृत पार्श्वनाथचरित अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भारत

1. काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० (संस्कृत) उपाधि हेतु स्वीकृत शोध-प्रबन्ध ।

2. The Jainas' in 'The History of Sanskrit Literature', p. 15

के धर्ममय जीवन में जिन महान् विभूतियों का चिरस्थायी प्रभाव है, उनमें जैन सम्प्रदाय के पूज्य तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ अन्यतम हैं। उनके पावन जीवन को जनमानस में प्रचारित करने की भावना से रचित **पार्श्वनाथचरित** का शोधात्मक अध्ययन इस उपेक्षित काव्य के विश्लेषण करने में मेरा सावधान पदक्षेप है। मैंने तथ्यानिष्ठा के साथ **पार्श्वनाथचरित** महाकाव्य का सम्यक् विश्लेषण करते हुए अनुसंधान करने का जो विनम्र प्रयास किया है, उसका सारसंक्षेप विद्वानों के समक्ष उपस्थित है। प्रकृत शोध-प्रबंध सात अध्यायों में विभक्त है।

प्रथम अध्याय: चरितकाव्य और पार्श्वनाथचरित

संस्कृत-साहित्य में चरितकाव्यों की एक लम्बी परम्परा है, जो ईसा की सप्तम शताब्दी से प्रारम्भ होती है उसके बाद अद्यावधि शताधिक चरितकाव्य लिखे गये हैं। इन काव्यों में जैन धर्म के सम्मान्य तिरसठ शलाका पुरुषों, चौबीस कामदेवों, कतिपय अन्य पुण्यपुरुषों, महिलाओं एवं राजाओं का चरित गुम्फित है। जिन काव्यों में राजाओं का चरित गुम्फित है, उन्हें ऐतिहासिक चरितकाव्य और जिन में शलाका पुरुषों या अन्य पुण्यपुरुषों का आख्यान निबद्ध है, उन्हें पौराणिक चरित काव्य कहा जा सकता है। राम-लक्ष्मण, कृष्ण-बलदेव, प्रद्युम्न, हनुमान् आदि के प्रति जैनों का भी सदा से पूज्यभाव रहा है। अतएव जैनों ने अपने सम्प्रदाय की मान्यताओं के अनुसार इनके जीवनचरित पर अनेक काव्यों की रचना की है। यही नहीं, प्राकृत की तरह संस्कृत भाषा में भी जैन कवियों ने चरितकाव्य लिखने का श्रीगणेश रामकथा से ही किया है। जैन परम्परा में सम्पूर्ण वाङ्मय को चार अनुयोगों में विभक्त किया गया है। इनमें चरितकाव्य प्रथमानुयोग के अन्तर्गत आते हैं। प्रथमानुयोग में परमार्थ विषय का कथन करने वाले तिरसठ शलाका पुरुष एवं अन्य धार्मिक व्यक्तियों के जीवनचरित का वर्णन होता है।

जटासिंहनन्द का **वरांगचरित** (7-8वीं शताब्दी का सन्धिकाल), वीरनन्द का **चन्द्रप्रभचरित**, महासेन का **प्रद्युम्नचरित** और असग का **वीरवर्धमानचरित** (10वीं शताब्दी), वादिराजसूरि का **पार्श्वनाथचरित** और **यशोधरचरित** (11वीं शताब्दी), हेमचन्द्र का **कुमारपालचरित** (12वीं शताब्दी) और उदयप्रभसूरि का **संघपतिचरित** या **धर्माभ्युदय महाकाव्य** (13वीं शताब्दी) संस्कृत साहित्य के प्रतिनिधि चरितकाव्य है। इनमें हेमचन्द्र के **कुमारपालचरित** और उदयप्रभसूरि के **संघपतिचरित** का इतिहास के परिप्रेक्ष्य में अत्यन्त महत्त्व है। काव्य निर्माण की संख्या की दृष्टि से 14वीं-15वीं शताब्दी का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस समय के कवियों में भट्टारक सकलकीर्ति प्रमुख हैं। 16वीं से 20वीं शताब्दी में अब तक लगभग चालीस चरितकाव्यों का निर्माण हुआ। बीसवीं शताब्दी में श्री भूरामल-शास्त्री (श्री ज्ञानसागर महाराज) ने अनेक काव्यों की रचना की, जिनमें **महावीरचरित** या **वीरोदय** और **समुद्रदत्तचरित** उत्कृष्ट कोटि के चरितकाव्य हैं। इन काव्यों में भाषा और भाव तथा नवीन छन्दोनिर्माण के क्षेत्र में कवि ने अपनी प्रतिभा का अनुपम निदर्शन प्रस्तुत किया है।

भारत के धार्मिक जीवन में तीर्थंकर पार्श्वनाथ का जीवनचरित अत्यन्त रोचक एवं घटनाप्रधान है। अनेक कवियों ने उनके पवित्र संदेश का प्रचार करने के लिए प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं—संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश—में बीस से भी अधिक काव्यों का प्रणयन किया है। संख्या की दृष्टि से ही नहीं, भावों की दृष्टि से भी ये काव्य अत्यन्त प्रभावशाली हैं। इनमें संस्कृत भाषा में लिखित **पार्श्वनाथचरित** अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि इसके पूर्व **पार्श्वभ्युदय** की रचना जिनसेनाचार्य ने मेघदूत की समस्यापूर्ति के रूप में की थी, किन्तु उसमें जीवन की एकाध घटना का ही समावेश हो पाया है। प्रथम अध्याय में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं में रचित समस्त पार्श्वनाथ विषयक काव्यों का भी परिचय समाविष्ट कर लिया गया है।

द्वितीय अध्याय: ग्रन्थकार और ग्रन्थ

इस अध्याय में वादिराजसूरि का विस्तृत परिचय प्रस्तुत किया गया है। संस्कृत साहित्य के विशाल भाण्डार के अनुशीलन से वादिराज नामक अनेक विद्वानों का पता चलता है। जिन वादिराज के सरस **एकीभावस्तोत्र** से धार्मिक समाज, **न्यायविनिश्चयविवरण** से तार्किक समाज और **यशोधरचरित** से साहित्यिक समाज सर्वथा सुपरिचित है, वही **पार्श्वनाथचरित** महाकाव्य के रचयिता हैं। वादिराज द्राविडसंघान्तर्गत नन्दिसंघ की अरुंगल शाखा के विद्वान् थे। दक्षिण भारत में उस समय दिगम्बर और श्वेताम्बरों के अतिरिक्त यापनीय नामक एक स्वतंत्र सम्प्रदाय भी प्रचलित रहा है। इस यापनीय सम्प्रदाय में भी एक नन्दिसंघ था, किन्तु वादिराज का संबन्ध इस नन्दिसंघ से नहीं था। द्राविड संघ की उत्पत्ति विक्रमादित्य की मृत्यु के 526 वर्ष बाद हुई थी। इन्द्रनन्दि ने इसे जैनाभास माना है, किन्तु इस संघ में कोई मौलिक जैनधर्म विरोधी मान्यता दृष्टिगत नहीं होती, जिसके कारण इसको जैनाभास कहा जाय। वादिराज की जन्मभूमि और माता-पिता के विषय में कोई प्रमाण नहीं मिलता है। द्राविडसंघीय होने से इनका दक्षिणात्य होना निश्चित है। इनके दादागुरु का नाम श्रीपालदेव और गुरु का नाम मत्तिसागर था। शाकटायन व्याकरण की टीका '**रूपसिद्धि**' के रचयिता दयापाल मुनि इनके सतीर्थ थे। कवि का असली नाम वादिराज था या उपाधि? इसमें वैमत्य है। किन्तु वादिराज ने **पार्श्वनाथचरित** की प्रशस्ति और **यशोधरचरित** में अपना नाम वादिराज ही लिखा है, अतएव इनका वास्तविक नाम वादिराज ही मानना चाहिए।

वादिराज ने **पार्श्वनाथचरित** की रचना शक सं. 947 (1025) ई० में चालुक्यचक्रवर्ती महाराज जयसिंह की राजधानी 'कट्टुगेरी' (?) में की थी। यह दक्षिण भारत में बादामी से 12 मील दूर एक प्राचीन नगर है। पार्श्वनाथचरित, यशोधरचरित एकीभावस्तोत्र, न्याय-विनिश्चय विवरण और प्रमाण-निर्णय ये पाँच वादिराज की असंदिग्ध कृतियाँ हैं। वादिराज की प्रशंसा में अनेक प्रस्तरलेख और उल्लेख मिलते हैं। वादिराज दक्षिण भारतीय भट्टारक सम्प्रदाय के थे, जो मठाधीशों का सम्प्रदाय रहा है। जिन दक्षिणभारतीय विद्वानों ने संस्कृत

के विकास में सहयोग किया है, उनमें वादिराज का स्थान महत्त्वपूर्ण है। वादिराज के परिचय, कीर्तन और उनके ग्रन्थों के वैविध्य से सिद्ध है कि वे बहुमुखी प्रतिभा—सम्पन्न विद्वान् थे। न्याय और साहित्य दोनों के क्षेत्र में उनकी अगाध पंठ थी।

तृतीय अध्याय : कथावस्तु और पूर्वकविप्रशस्ति

पाश्वर्नाथचरित महाकाव्य का मूल स्रोत गुणभद्राचार्य का उत्तरपुराण है। यद्यपि उत्तरपुराण के पूर्व तिलोयपण्णत्ती और पाश्वर्नाथ्युदय की रचना हो चुकी थी, किन्तु इन्हें पाश्वर्नाथचरित का मूल स्रोत नहीं माना जा सकता है, क्योंकि तिलोयपण्णत्ती में माता-पिता के नाम आदि का संक्षिप्त निर्देश है और पाश्वर्नाथ्युदय में जीवन की एकाध घटना है, जबकि पाश्वर्नाथचरित में जीवन का सांगोपांग वर्णन हुआ है। डा० नेमिचन्द्र शास्त्री द्वारा निर्दिष्ट पद्यकीर्ति का पासणाहचरित वादिराजकृत पाश्वर्नाथचरित के बाद की रचना है। अतः उसका तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। वादिराज ने पाश्वर्नाथचरित की कथावस्तु को स्वाभाविक, हृदयग्राही और प्रभावी बनाने के लिए अपनी कल्पना से आवश्यक परिवर्तन और परिवर्धन भी किये हैं, किन्तु कवि की कल्पना ने कहीं भी ऐतिहासिक मूल परिवेश का त्याग नहीं किया है। वादिराज ने मंगलाचरण के प्रसंग में कविपरम्परा का निर्वाह करते हुए अपने पूर्ववर्ती 14 जैन कवियों और आचार्यों—गृद्धपिच्छ, स्वामी समन्त-भद्र, देवनन्दि, अकलंक, वादिसिंह, सन्मति, जिनसेन, अनन्तकीर्ति, पाल्यकीर्ति (शाकटायन), धनञ्जय, अनन्तवीर्य, विद्यानन्द, विशेषवादि और वीरनन्दि का उल्लेख किया है। कविकृत यह उल्लेख ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इनका उल्लेख कालक्रमानुसार किया गया है। इतिहास के परिप्रक्षेप में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान होने के कारण इस अध्याय में इन कवियों का परिचय देते हुए समय निर्धारण किया गया है। संस्कृत साहित्य के इतिहास में इन कवियों और आचार्यों की भूमिका का आकलन सभी दृष्टियों से निःसन्देह उपादेय है।

चतुर्थ अध्याय : काव्यशास्त्रीय समीक्षा

काव्यशास्त्रीय दृष्टि से पाश्वर्नाथचरित एक सफल महाकाव्य है। काव्याचार्यों ने महाकाव्य में जिन गुणों का होना आवश्यक माना है, उन सबका सन्निवेश पाश्वर्नाथचरित में हुआ है। अन्य जैन चरित-काव्यों की तरह पाश्वर्नाथचरित में अंगी रस के रूप में शान्त रस का परिपाक हुआ है। प्रायः अन्य सभी रसों की व्यंजना अंगरसों के रूप में सफलतापूर्वक हुई है। प्रयो की दृष्टि से शान्त के ही समान शृंगार रस भी अनेक स्थलों में व्यापक है। विप्रलम्भ शृंगार की अपेक्षा संभोग शृंगार के चित्र अधिक प्रभावी हैं। सामान्यतः सभी रसों की अभिव्यंजना में वादिराज की समान गति है। संस्कृतवाङ्मय में अलंकारों का सर्वाधिक महत्त्व प्रतिपादित है। पाश्वर्नाथचरित में वर्णनों को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए तथा परम्परया रसों को पुष्ट करने के लिए शब्द और अर्थ उभयविध अलंकारों का सन्निवेश किया गया है। शब्दालंकारों में अनुप्रास की शोभा, यमक की मनोरमता, श्लेष की संयोजना, और चित्रालंकारों की विचित्रता पाठकों को अलौकिक आनन्द प्रदान करती है।

कवि के गतप्रत्यागत, अपवर्ग, निरोष्ठ्य, गोमूत्रिका आदि चित्रालंकार विशेष प्रभावी है। अर्थालंकारों में लगभग 25 अलंकारों का रसानुकूल सन्निवेश है, जो चमत्कृति के साथ ही भावों को भी उद्वेलित करता है। सम्पूर्ण **पाशर्वनाथचरित** में सर्वत्र अलंकारों की व्यापकता दृष्टिगत होती है, किन्तु अलंकारों के आवरण से भावसौन्दर्य में मन्दता नहीं आई है।

अलंकारों ही की तरह **पाशर्वनाथचरित** की छन्दयोजना भी अत्यन्त विस्तृत है। कवि ने 25 से भी अधिक छन्दों का प्रयोग करके अपने पाण्डित्य का अनुपम परिचय दिया है। प्रयोग की दृष्टि से **पाशर्वनाथचरित** में अनुष्टुप्, वंशस्थ, वियोगिनी, मालभारिणी, पुष्पिताम्रा और उपजाति का प्रयोग अधिक हुआ है। मालभारिणी जैसे अप्रचलित छन्द का पर्याप्त प्रयोग वादिराज जैसे समर्थ कुशल कलाकार द्वारा ही संभव हो सका है। **पाशर्वनाथचरित** का षष्ठ सर्ग तो छन्दों का अजायबघर है। एक दो छन्दों को छोड़कर शेष सभी छन्दों का प्रयोग इस सर्ग में हुआ है। वादिराज ने **पाशर्वनाथचरित** में वैदर्भी रीति और प्रसादगुण का बहुतायत प्रयोग किया है। किन्तु माधुर्य और ओजगुण का प्रयोग भी यथास्थान हुआ है। प्रायः सभी आलंकारिकों ने काव्य की निर्दोषता पर अधिक बल दिया है, किन्तु कालिदास जैसे समर्थ कवि भी दोषों से बच नहीं सके हैं। वादिराज के **पाशर्वनाथचरित** में भी च्युतसंस्कृति, अप्रयुक्तत्व, अविमृष्टविधेयांश आदि कुछ दोष दृष्टिगत होते हैं। इतना होने पर भी अनेक गुणों के मध्य एकाध दोष काव्य में उसी प्रकार अपकर्ष नहीं करता है, जैसे कि चन्द्रमा के मध्य में स्थित कलंक चन्द्रमा का अपकर्ष नहीं करता है। इस प्रकार इस अध्याय में महाकाव्यत्व, रस, छन्द, अलंकार, गुण और दोषों का विवेचन किया गया है।

पञ्चम अध्याय : वर्णन

इस अध्याय में महाकाव्य के वर्णविषयों का चित्रण किया गया है। प्रकृतिचित्रण काव्य का अनिवार्य तत्त्व है। प्रकृतिचित्रण के दोनों रूपों—आलम्बन और उद्दीपन—का चित्रण **पाशर्वनाथचरित** में हुआ है। वादिराज के प्रकृतिचित्रण की यह विशेषता है कि कहीं वह मादक वातावरण पाकर शृंगार का उद्दीपन करता है तो कहीं शान्त वातावरण में शान्त रस का संचार। कालिदास आदि महाकवियों की तरह वादिराज ने भी **पाशर्वनाथचरित** में प्राकृतिक वर्णनीय विषयों में चन्द्रोदय, सूर्योदय, प्रातः, मध्याह्न, संध्या, रात्रि, पर्वत, नदी, वन, आश्रम, नगर, रतिक्रीडा, जलक्रीडा, मदिरापान, पुत्रजन्मोत्सव, मन्दिर, युद्ध, षड्ऋतु आदि का वर्णन किया है। इनमें ऋतुओं का वर्णन कवि की स्वाभाविक उत्प्रेक्षाओं से अलंकृत होकर ललित शब्दावली की शोभा से सहज ही पाठकों का चित्त आकृष्ट कर लेता है। उनके ऋतुवर्णन में शीतल मंद सुगंधित समीर, पुष्पों का अलौकिक सौन्दर्य, भ्रमरों का गुञ्जार, पक्षियों का कलरव, युवतियों का नाचगान, स्त्रीपुरुष के विप्रलंभ का वर्णन मानवीय सुख-दुख की भावनाओं के आधार पर किया है। इन प्राकृतिक वर्णनों के अतिरिक्त नारी का परम्परागत नखशिखवर्णन कवि को सूक्ष्म दृष्टि और कल्पना का अद्वितीय नमूना है। उनके वर्णन में कला और भावों का अद्भुत संयोजन हुआ है। कला की सशक्तता

और अनुभूति की सजगता का मणिकांचन संयोग वादिराज के वर्णनों में सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है ।

षष्ठ अध्यायः तात्कालिक स्थिति

पाद्वनाथ चरित के आन्तरिक अनुशीलन से उसमें प्रतिबिम्बित तात्कालिक स्थिति की झांकी दिखलाई पड़ती है । प्रकृत अध्याय में उसी का विवेचन किया गया है । तत्कालीन समाज में वर्णाश्रम व्यवस्था का पर्याप्त प्रभाव था । वैदिक और श्रमण दोनों ही सम्प्रदायों में ब्राह्मण वर्ण मौजूद था । चाण्डालों को अस्पृश्य माना जाता था । परिवार में कटु और मधुर उभयविध सम्बंध रहते थे । पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, पुत्रोत्पत्ति, नामकर्म, चौलकर्म, आदि संस्कारों ने धार्मिक मान्यता प्राप्त करली थी । अतएव उनका करना आवश्यक माना जाता था । सामान्यतः निरामिष भोजन का ही प्रचलन था, परन्तु जंगली जातियों में सामिष भोजन भी किया जाता था । चावल की विविध किस्में प्रयुक्त होती थीं । उस समय इक्षुरस और मदिरा मुख्य पेय था । पहिने के वस्त्रों में मुख्य रूप से ऊर्ध्ववस्त्र और अधो-वस्त्र इन दो वस्त्रों का प्रयोग होता था । विट, अभिसारिका एवं वेश्या की वेषभूषा भिन्न होती थी । मनोविनोद के साधनों में प्रहासगोष्ठी, नृत्य, गान, वाद्य, गृहारामभ्रमण, दोला-लीला आदि का प्रमुख स्थान था । वाद्यों में वल्लकी, पटह, वेणु, वीणा, दुंदुभि, पणव, तुणव, मंजीर आदि का प्रयोग होता था । आभूषणों के रूप में कुण्डल, अवतंस, मणिहार, मुक्ताहार, वलय, अंगद, कांचनमेखला, मणिमेखला, किंकिणी, नूपुर, मणिनूपुर आदि का प्रयोग किया जाता था । प्रसाधन के साधनों में चन्दनलेप, केसरलेप, आम्रपल्लव, केसरपक्ष, कमलिनीपत्र, पद्मकुड्मल, कुंकुमलेप, अंजन, दर्पण आदि का उपयोग होता था । आवागमन के साधनों में हाथी, घोड़ा, टट्टू, पालकी आदि का उपयोग किया जाता था । जीविकोपार्जन के साधनों में कृषि, व्यापार और दुकानदारी का प्रमुख स्थान था ।

वादिराज का समय राजनीति का संक्रमण काल था । अतः राजनीतिक परि-स्थितियों का प्रभाव भी पाद्वनाथचरित में परिलक्षित होता है । राजा और मंत्री का उत्तराधिकार प्रायः परम्परया ज्येष्ठ पुत्र को ही मिलता था, किन्तु ज्येष्ठ पुत्र के अयोग्य होने पर छोटे पुत्र को भी दिया जा सकता था । युवराज पद के लिए यौवराज्याभिषेक और राजपद के लिए राज्याभिषेक किया जाता था । राजा के आधीन अनेक अधिकारी और सेवक होते थे प्रजा की आन्तरिक स्थिति का पता लगाने के लिए एक गुप्तचर विभाग भी होता था । उस समय राजा और प्रजा के सम्बन्ध अत्यन्त मधुर थे । राजा की आय के साधनों में प्रजा से प्राप्त कर प्रमुख थे । न्याय और दण्डव्यवस्था अत्यन्त सुदृढ़ थी । देश की रक्षा के लिए एक सैन्य विभाग होता था ।

शिक्षा के केन्द्रों में आश्रमों का महत्त्वपूर्ण स्थान था । गुरु और शिष्य के परस्पर अत्यन्त मधुर संबंध थे । पाठ्यक्रम में वेद, जैनागम, धर्मशास्त्र, राजनीति शास्त्र, शास्त्रास्त्र विद्या आदि का अध्ययनाध्यापन होता था । इस प्रकार पाद्वनाथचरित में आज से 950

वर्ष से भी पहले की स्थिति का चित्र उपस्थित होता है। समाज के परिपार्श्व में यह विवेचन अविस्मरणीय है।

सप्तम अध्याय : पूर्ववर्ती कवियों का प्रभाव

पूर्ववर्ती साहित्य का सभी कवियों पर प्रभाव पड़ना आवश्यकभावी है, क्योंकि कवि अपने पूर्वकवियों की कृतियों का गम्भीर अध्ययन करता है। सम्पूर्ण संस्कृतवाङ्मय में पद्यबंध में कविकुलगुरु कालिदास, भारवि, माघ और जैनकवि हरिचन्द्र तथा गद्यकाव्यनिबन्ध में बाणभट्ट का महत्त्वपूर्ण एवं सर्वातिशायी स्थान है। वादिराजकृत पाश्वर्नाथचरित में कालिदास के रघुवंश, कुमारसंभव, ऋतुसंहार, और मेघदूत, भारवि के किरातार्जुनीय, माघ के शिशुपालबध, हरिचन्द्र के घर्मशर्माभ्युदय तथा बाणभट्ट की कादम्बरी का शाब्दिक, आर्थिक या भावात्मक अनुकरण दृष्टिगोचर होता है। किन्तु पाश्वर्नाथचरित में पूर्वकाव्यों की परम्परा के निर्वाह के साथ ही वादिराज ने अपनी नवनवोन्मेषशालिनी मनीषा से उसमें मौलिक अनुभूतियों के समावेश के द्वारा नवीन स्वरूप प्रदान कर दिया है।

पाश्वर्नाथचरित के इस शोधात्मक अध्ययन के आधार पर हम अनायास इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि भारत की साहित्य-साधना संस्कृत को आधार बनाकर सभी सम्प्रदायों के संकीर्ण बंधन को पार कर गई थी। भारत की सार्वभौम भाषा के रूप में संस्कृत की प्रतिष्ठा में वैदिक, बौद्ध आदि सम्प्रदायों के साथ-साथ जैन सम्प्रदाय ने भी सहयोग किया और एक समृद्ध एवं ऐश्वर्यशाली साहित्यिक परम्परा का निर्माण किया। वादिराज निःसंशय मध्ययुगीन भारत के संस्कृत साहित्य के अग्रगण्य प्रतिभू रहे हैं और उनकी कृतियों ने संस्कृतसाहित्य के भाण्डार को नवीन आदर्श और नई भावराशियों का स्मरणीय उपहार दिया है।



महाराष्ट्र के सन्त नामदेव थे। मां ने आदेश दिया कि जंगल से पलास की डाली काट कर लाओ। नामदेव ने रास्ते में सोचा कि सन्त कहते हैं कि वनस्पति में भी जीव होते हैं। मेरे दर्द होगा तो इनके भी दर्द होगा। मैं परीक्षण तो करूं। उसने अपने पैर पर कुल्हाड़ी चला दी। धोती खून से लथपथ हो गई। दर्द होने लगा। बिना डाली काटे घर लौटे। मां को कहा कि मैंने परीक्षण किया था। जब मेरे दर्द होता है तो मैं औरों के दर्द कैसे कर सकता हूं?



हवा के झोंके से तालाब की शैवाल कुछ हटी। कछुए ने देखा कि बाहर तारे टिम-टिमा रहे हैं, चांद चमक रहा है, वृक्ष लहरा रहे हैं, ठण्डी हवा चल रही है। कछुआ खो गया, इस नई दुनिया में। आज तक वह उस तालाब को ही दुनिया माने हुए था। उसने सोचा कि कितना अच्छा हो, मैं अपने कुटूम्ब को यह नई दुनिया दिखाऊं। वह परिवरा को साने गया, तब तक हवा के झोंके से शैवाल पुनः छा गई। सबने उसे झूठा माना।

ठीक इसी प्रकार आत्मा मोह के चक्र में इस भांति फंसी है कि उसे इस भौतिक संसार के बाहर कुछ दिखाई नहीं देता।

जैन विश्व भारती : प्रवृत्ति एवं प्रगति

शोध विभाग:—

जैन विश्व भारती शोध-प्रधान संस्था है। शोध, शिक्षा एवं साधना ये तीनों विभाग उतरोत्तर प्रगति कर रहे हैं, जिसकी कुछ जानकारी गतांक में दी जा चुकी है।

आलोच्य काल में शोध विभाग में जापान से दो विद्वान, सुश्री एन. शान्ता नाम की एक फ्रैंच महिला, प्रज्ञा चक्षु श्री सुमेरमल बैद एवं श्री रमेशभाई आए एवं शोध कार्य में भाग लिया तथा ले रहे हैं। इनका संक्षिप्त परिचय पाठकों की जानकारी हेतु निम्न प्रकार दिया जा रहा है :—

अतशुशी इतो—जापान निवासी श्री इतो जैन न्याय शास्त्र (संस्कृत भाषा के माध्यम से) अध्ययनार्थ इस संस्था में आये हैं। जापान का इनका पता है—हिरो-चो, हिरो-गुन, होक्कैडो (जापान) 089-26. आप होक्कैडो विश्व विद्यालय से स्नातकोत्तर डिग्री प्राप्त हैं। अभी आपका उद्देश्य हिन्दी भाषा (मुख्यतया वातालाप) तथा अर्द्धमागधी भाषा का काम-चलाऊ ज्ञान प्राप्त करना है, ताकि बाद में स्वतः अध्ययन में सुविधा हो। आपने अर्नेष्ट बैडर लिखित “हिन्दी व्याकरण तथा रीडर” और एस. एन. शर्मा लिखित “हिन्दी व्याकरण एवं अनुवाद” की सहायता से स्वतः हिन्दी भाषा का अध्ययन आरंभ कर दिया है। आप बड़े, परिश्रमी एवं अध्वयसायी हैं।

शैकी मियासिता—ओटानी विश्वविद्यालय से स्नातकोत्तर परीक्षा उत्तीर्ण श्री मियासिता जापान के निवासी हैं, जिनका पता है—35, योको-माची, मतसुतो-शी, इशीकाबा (जापान)। डा० नथमलजी टाटिया, निदेशक, शोध विभाग की देखरेख में संस्कृत ग्रन्थ “अभिधर्म कोश भाष्य” का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद करने हेतु आप इस संस्था में आये हैं। अभी आप तिब्बती भाषा के द्वारा “अभिधर्म कोश टीका तत्त्वार्थ” (स्थिरमति कृत भाष्य) का अध्ययन कर रहे हैं। कार्य के प्रति आपकी निष्ठा एवं लगन सराहनीय है।

सुश्री एन. शान्ता—आप विगत 25 वर्षों से भारत में आई हुई हैं। वाराणसी के प्रो. डा. आर पणिकर, जो कि तुलनात्मक धर्म एवं दर्शन के विश्वविख्यात अधिकारी माने जाते हैं, की सहयोगिनी के रूप में कार्यरत हैं। आप केलिफोर्निया विश्वविद्यालय के शोध विभाग से भी सम्बद्ध हैं। आप साथ साथ जैन साध्वियों के संबंध में भी गवेषणात्मक अध्ययन कर रही हैं। उनकी योजना है कि उस विषय में फ्रैंच भाषा में एक ग्रन्थ लिखा जाय तथा उसका अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हो। इस प्रसंग में उन्होंने विभिन्न सम्प्रदायों की अनेक

साधियों से सम्पर्क किया है। वे जैन विश्व भारती में 1-11-78 को आई एवं एक सप्ताह-पर्यन्त यहां रहकर मुनि श्री नवरत्नमलजी जो कि तेरापंथ सम्प्रदाय के सुप्रसिद्ध इतिहासकार हैं, के सहयोग से एवं “शासन समुद्र” तथा प्राचीन ग्रन्थों के आधार से तेरापंथ सम्प्रदाय के प्रथम तीन चार आचार्यों के समय की महासतियांजी के संबंध में जानकारी प्राप्त की। लाडनू स्थित सेवा केन्द्र जहां वृद्ध, अशक्त, रुग्ण सतियांजी विराजमान हैं, उनके संबंध में पूरे तथ्य संग्रहीत किये। उन्हें यह जानकर अतीव प्रसन्नता हुई कि तेरापंथ समाज के संत सतियां जी का सुव्यवस्थित इतिहास प्रारंभ काल से उपलब्ध है। सेवा केन्द्र में सेवा की जो सराहनीय व्यवस्था है, यह देखकर भी वे मुग्ध हुई। आपने पारमार्थिक शिक्षण संस्था की गतिविधियों का बारीकी से अवलोकन किया तथा ज्ञानरत दीक्षाथिनी बहिनों की ज्ञान स्पृहा एवं जीवनचर्या से इतनी प्रभावित हुई कि इन्होंने मुक्तकण्ठ से संस्था की सराहना की तथा निम्नलिखित सम्मति लिखी—

“Here is a centre of spirituality and learning for the Sramani of the future. While they learn in depth the essence and richness of their Jaina tradition, may they also be open to other traditions, and learn their essence and richness not only through learning and study, but also through living encounters. आशीर्वाद ! एन. शान्ता बहिन।

कुमारी एन. शान्ता हिन्दी अच्छी तरह जानती हैं। मारवाड़ी भाषा में लिखित गद्य-पद्य वे अनायास समझ लेती हैं। संस्कृत एवं प्राकृत भाषा में भी उनकी गति है। बंगला तथा गुजराती भाषा का भी आपको ज्ञान है। उनकी लगन सराहनीय है। प्रतिदिन नौ-दश घण्टे काम करना उनका नित्य क्रम रहा है। वे पुनः अपने शोध कार्य के लिए यहां आवेंगी।

श्री सुमेरमल बंद-(लाडनू) ने, जो भागलपुर रहते हैं, हिन्दी में पटना विश्व विद्यालय से एम. ए. हैं, वर्तमान में भागलपुर विश्वविद्यालय से पी-एच. डी. के लिए पंजीकरण कराया है। संस्कृत विभाग के प्राध्यापक डा. कलानाथ झा उनके शोध-मार्गदर्शक रहेंगे। उनके शोध प्रबंध का विषय है—“आचार्य श्री भिक्षु : व्यक्तित्व और कृतित्व”। वे इन दिनों यहां आये थे। डा० नथमल टाटिया से इस संबंध में उन्होंने परामर्श लिया है। साथ ही मुनि श्री नवरत्नमल जी तथा मुनि श्री महेन्द्रकुमार जी के साथ भी इस विषय में विस्तृत-चर्चाएं कीं। वे आगामी ग्रीष्मकाल में दो तीन मास यहां रहकर अपने शोध कार्य को आगे बढ़ायेंगे। यह उल्लेखनीय है कि श्री बंद “प्रज्ञाचक्षु” हैं, फिर भी बहुत उत्साही एवं लगनशील हैं।

श्री रमेशचन्द्र लालन (बम्बई)—जो बम्बई में महाराष्ट्र सरकार में पुलिस प्रोसी-क्यूटर हैं, ‘Jain Penology’ (जैन दण्ड विद्या) पर अपना शोध प्रबंध लिख रहे हैं। इसी संदर्भ में वे यहां आये थे। मुनि श्री महेन्द्रकुमार जी एवं डा० टाटिया से दो तीन दिन तक इस विषय में मार्गदर्शन प्राप्त किया। वे शीघ्र ही बम्बई विश्वविद्यालय के कानून—विभाग को अपना शोध-प्रबंध पी-एच. डी. हेतु समर्पित करेंगे।

अनुवाद कार्य

आलोच्य काल में मुनि श्री नथमल जी की पुस्तक “जैन न्याय का विकास” का

अंग्रेजी अनुवाद श्री रामस्वरूप सोनी, एम. ए. (अंग्रेजी) बी. एड. द्वारा सम्पन्न किया गया ।

इसके साथ ही Encyclopaedia of Religion and Ethics में से Hermann Jacobi लिखित Jainism का हिन्दी अनुवाद तथा Erich Frauwallner लिखित The System of the Jaina का हिन्दी अनुवाद भी उन्हीं द्वारा सम्पन्न हो चुका है ।

आजकल अप्पा स्वामी चक्रवर्ती लिखित Jainism : its philosophy and Ethics का हिन्दी अनुवाद कार्य चालू है ।

शिक्षा विभाग

ब्राह्मी विद्यापीठ—के अन्तर्गत राजस्थान विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम प्रथम वर्ष कला स्नातक कक्षा में 6 छात्राओं का नवीन प्रवेश हुआ, इस प्रकार कुल छात्राओं की संख्या 15 हो चुकी है । पारमाथिक शिक्षण संस्था की 8 छात्राओं की दीक्षा हो जाने के पश्चात् वर्तमान में 84 संस्था साधि काएं जैन विश्व भारती के जैन विद्या, प्राक् स्नातक, एवं स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम का अध्ययन कर रही हैं ।

कालेज छात्राओं को निर्धारित विषयों के अतिरिक्त सिद्धाई एवं संगीत शिक्षाओं का अभ्यास क्रम प्रारंभ हो गया है । इन्हें जैन दर्शन एवं ध्यान, योग का प्रशिक्षण भी पहले से दिया जा रहा है ।

जैन तत्त्व दर्शन का अंग्रेजी भाषा के माध्यम से बोध करवाने हेतु अध्ययन परिषद् (study circle) का प्रारंभ किया गया है । जिसमें विद्यापीठ के शिक्षार्थी एवं व्याख्यातागण आवश्यक रूप से भाग लेते हैं । विश्व भारती के पदाधिकारी भी इससे लाभान्वित होते हैं । परिषद् के प्रमुख प्रवक्ता श्री जेठा भाई जवेरी, उपाध्यक्ष-जैन विश्व भारती हैं । मुनि श्री महेंद्रकुमार जी के सान्निध्य से जैन दर्शन के सूक्ष्म रहस्यों का स्पष्टीकरण वैज्ञानिक दृष्टिकोण से मिलता है ।

पयुंषण पर्व के नवान्हिक कार्यक्रमों के सम्पादन-सहयोग हेतु जैन विश्व भारती की ओर से विद्यापीठ के व्याख्याता श्री एन. एल. जैन 'जिज्ञासु' को दो अन्य साथियों के साथ पीपाड़ शहर भिजवाया गया था । उनके ग्रुप की यह यात्रा विश्व भारती के साधना प्रचार-प्रसार योजना के अन्तर्गत थी ।

मुनि श्री नवरत्नमल जी के सान्निध्य में आचार्य श्री तुलसी जन्म दिवस के उपलक्ष में आयोजित कार्यक्रम में विद्यापीठ की छात्राओं ने रोचक कार्यक्रम प्रस्तुत किये ।

जैन विद्या परीक्षा—पाठकों को यह जानकर प्रसन्नता होगी कि ता. 11-11-78 एव 12-11-78 को जैन विश्व भारती द्वारा आयोजित परीक्षाओं में करीब 6000 परीक्षार्थियों ने भाग लिया । ये परीक्षाएं 98 केन्द्रों में आयोजित की गई । गत वर्ष 2543 परीक्षार्थी प्रविष्ट हुए थे । हमें आशा है कि 1978-79 की परीक्षाओं में भाग लेने वालों की संख्या और भी अधिक होगी । इसका सारा श्रेय विभिन्न स्थानों में विराजित उन चारित्रात्माओं को है जिनकी प्रेरणा से एवं स्थानीय व्यवस्थाओं के प्रयास से यह सफलता मिली है ।

पत्राचार पाठमाला (जैन धर्म एवं दर्शन हेतु)—समयाभाव से जिन भाई बहिनों

को जैन धर्म व दर्शन के अध्ययन का लाभ संत सतियांजी के सान्निध्य में उपलब्ध नहीं हो पाता अथवा जो प्रौढ़ होने से किसी ज्ञानशाला में प्रविष्ट नहीं हो पाते, उनके लिए पत्राचार पाठमाला योजना आगामी 15 दिसम्बर से प्रारंभ की जा रही है। प्रवेशार्थी की योग्यता हार सैकण्डरी या समकक्ष होनी चाहिए। प्रत्येक छात्र को 2 पाठ प्रतिमाह और 22 पाठ प्रतिवर्ष भेजे जावेंगे। पाठ्यक्रम का वार्षिक शुल्क 15/— रुपये है जो प्रवेश पत्र के साथ देय होगा। इच्छुक व्यक्ति 30-11-78 तक कुलसचिव, जैन विश्व भारती से सम्पर्क स्थापित करें।

साधना विभाग —

जैन विश्व भारती में साधना विभाग के अन्तर्गत ध्यान, योग से संबंधित विभिन्न प्रवृत्तियां निर्वाह गति से चल रही हैं। यहां ध्यान से संबंधित दो प्रकार के शिविरों का, वर्ष भर में विभिन्न समयों पर आयोजन किया जाता है। ये हैं—1. प्रेक्षा ध्यान शिविर 2. अध्यात्म योग नैतिक शिक्षा शिविर। प्रेक्षा ध्यान शिविर मुनि श्री नथमल जी के सफल निर्देशन में सम्पादित किये जाते हैं। साधना-विभाग अब तक छः प्रेक्षा-ध्यान शिविरों का सफलतापूर्वक आयोजन कर चुका है। इनमें अंतिम गंगाशहर में 23 अक्टूबर से 1 नवम्बर तक “छठा प्रेक्षा ध्यान शिविर” अणुव्रत अनुशास्ता आचार्य श्री तुलसी के सान्निध्य व मुनि श्री नथमल के निर्देशन में आयोजित किया गया था। शिविरों की बढ़ती हुई लोक प्रियता व इसमें बढ़ती हुई साधकों की संख्या, साधना विभाग की सफलता का ज्वलंत प्रतीक है।

साधना विभाग ने प्रेक्षा-ध्यान शिविर के साथ ही 21 अक्टूबर से 27 अक्टूबर तक जैन विश्व भारती में, तुलसी अध्यात्म नीडम् में “अध्यापक अध्यात्म योग नैतिक शिक्षा शिविर” भी निर्धारित किया था। सम्पूर्ण तैयारियां हो जाने के बाद भी वर्तमान में यह संभव न हो सकने के कारण इसे स्थगित कर देना पड़ा। आगे उपयुक्त समय पर इसे निश्चित किया जा सकेगा।

शिविरों के अतिरिक्त साधना-भवन में प्रतिदिन की प्रवृत्तियां नियत समय पर होती हैं। साधकों के स्वयं के योगाभ्यास के अतिरिक्त सायं 7-30 से 8-15 बजे तक मुनि श्री महेन्द्रकुमार जी के मार्गदर्शन में प्रेक्षा-ध्यान का नियमित अभ्यास होता है।

विद्यालयों में अभी पिछले दिनों लाडनू नगर के तीन उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों, जे. बी. जौहरी व महावीर उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों के छात्र-छात्राओं, अध्यापक-अध्यापिकाओं व अन्य विद्वज्जनों के समक्ष “शिक्षा में सदाचार व योग ज्ञान की उपादेयता” विषय पर मुनि श्री महेन्द्रकुमार जी के प्रवचन हुए। वर्तमान जर्जरित शिक्षा पद्धति को उद्देश्यहीनता से हटाकर उसमें सार्थकता भर देने की प्रेरणा देते हुए मुनि जी ने बताया— शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य प्रत्येक व्यक्ति में विवेक-शक्ति व कर्तव्य-बोध का विकास करना है, हेय-उपादेय के फर्क को समझना है, व्यक्ति के लिए जीवन की समस्याओं के सही समाधान का मार्ग पा सकना है। जो व्यक्ति शिक्षित होकर भी विवेकहीन है, जिसे कर्तव्य का बोध नहीं है, उसे साक्षर भले समझा जाय किन्तु, शिक्षित कहना व्यर्थ है।

योग व नैतिक शिक्षा के महत्त्व को उद्घाटित करते हुए आपने कहा—शिक्षा के साथ

अन्य जो तत्त्व विद्यार्थी के लिए आवश्यक हैं, उन पर आज तेजी से चिन्तन किया जा रहा है। अब यह स्वीकृत तथ्य बन चुका है कि पुस्तकीय ज्ञान के साथ नैतिक शिक्षा व योग-शिक्षण का समावेश भी किया जाना आवश्यक है। इसके साथ ही अणुव्रत की महत्ता को प्रस्तुत करते हुए मुनि श्री ने कहा—अणुव्रत अनुशास्ता आचार्य श्री तुलसी ने अणुव्रत के द्वारा जो संदेश मानव-समाज को दिया है, वह सर्वसम्मत, सर्वमान्य है और विश्व के बड़े बड़े लोगों ने भी इसे स्वीकार किया है। उनके नैतिकता के उद्बोधन ने भौतिक चरमोल्लास में छटपटाती मानवता में नये प्राण फूंक दिये हैं।

विद्वान् मुनि श्री के कथन को सहमति देते हुए जे. बी. उच्चतर माध्यमिक विद्यालय के आचार्य आर. एस. सक्सेना ने बताया कि वर्तमान शिक्षा प्रणाली में योग व नैतिक शिक्षा के महत्त्व को स्वीकार कर लिया गया है। तथा अगले सत्र से ही शिक्षा के साथ-साथ शारीरिक योग आदि का प्रशिक्षण भी प्रारंभ किया जा रहा है।

साधना-विभाग योग की वैज्ञानिक विधि से, सरल सहज-बोधगम्य व जीवन के महान् परिवर्तक के रूप में विश्व के जन-जन के हृदय में उतार देने का कृत संकल्प है। प्रगति की पगदंडी पर आगे बढ़ने को उद्यत साधना-विभाग अपनी प्रारम्भिक अवस्था में विभिन्न साधकों व विद्वान् मनीषियों से महत्त्वपूर्ण सुझावों व मार्गदर्शन की अपेक्षा रखता है।

प्रेक्षा ध्यान-शिविर का दस दिवसीय आयोजन आगामी दिनांक 5-12-78 से 14-12-78 तक तुलसी अध्यात्म नीडम् प्रज्ञा प्रदीप में आयोजित किया जा रहा है, जिसमें मुनि श्री नथमल जी का सान्निध्य प्राप्त होगा। शिविर में भाग लेने के इच्छुक साधक दिनांक 4-12-78 तक लाइन पहुँच जावें।

स्वास्थ्य विभाग

सेवाभावी कल्याण केन्द्र—आयुर्वेद विभाग का साधारण चिकित्सा केन्द्र जो कि कतिपय कारणों से कई महीनों से बन्द था, उसके पुनर्संचालन हेतु वयोवृद्ध श्री माणकचन्द जी सेठिया की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया गया है, जिसके उपाध्यक्ष श्री सम्पतराय जी भूतोड़िया एवं सदस्य श्री बच्छराज जी पगारिया तथा संस्था के मंत्री पदेन सदस्य रहेंगे। यह समिति पूरे उत्साह और लगन के साथ इस विभाग को सुन्दर रूप से प्रारंभ करने के लिए प्रयत्नशील है। सुयोग्य एवं निपुण वैद्य की नियुक्ति हो गई है और हमें पूर्ण विश्वास है कि इस विभाग से न केवल लाइन् की जनता अपितु आसपास के सभी वर्ग व जाति के व्यक्तियों को लाभ मिलेगा।

इस केन्द्र के अन्तर्गत रोग निदान केन्द्र की व्यवस्था भी रहेगी, जिसमें आधुनिकतम प्रक्रियाओं से रोग निदान हो सकेगा। इस विषय की पूरी जानकारी आगामी अंक में दी जायेगी।

केसर विभाग—यह केन्द्र मोमासर निवासी श्रीमान् कन्हैयालाल जी पटावरी के आर्थिक सहयोग से ही जैन विश्व भारती की सेवा प्रवृत्ति का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र है। इस विभाग का संचालन कार्य श्री जैवरीमल जी एवं त्रिलोकचन्दजी फूलफगर की देखरेख में हो रहा है। विगत अगस्त, सितम्बर, अक्टूबर, 1978 की तिमाही में रोगियों की संख्या निम्न प्रकार रही—

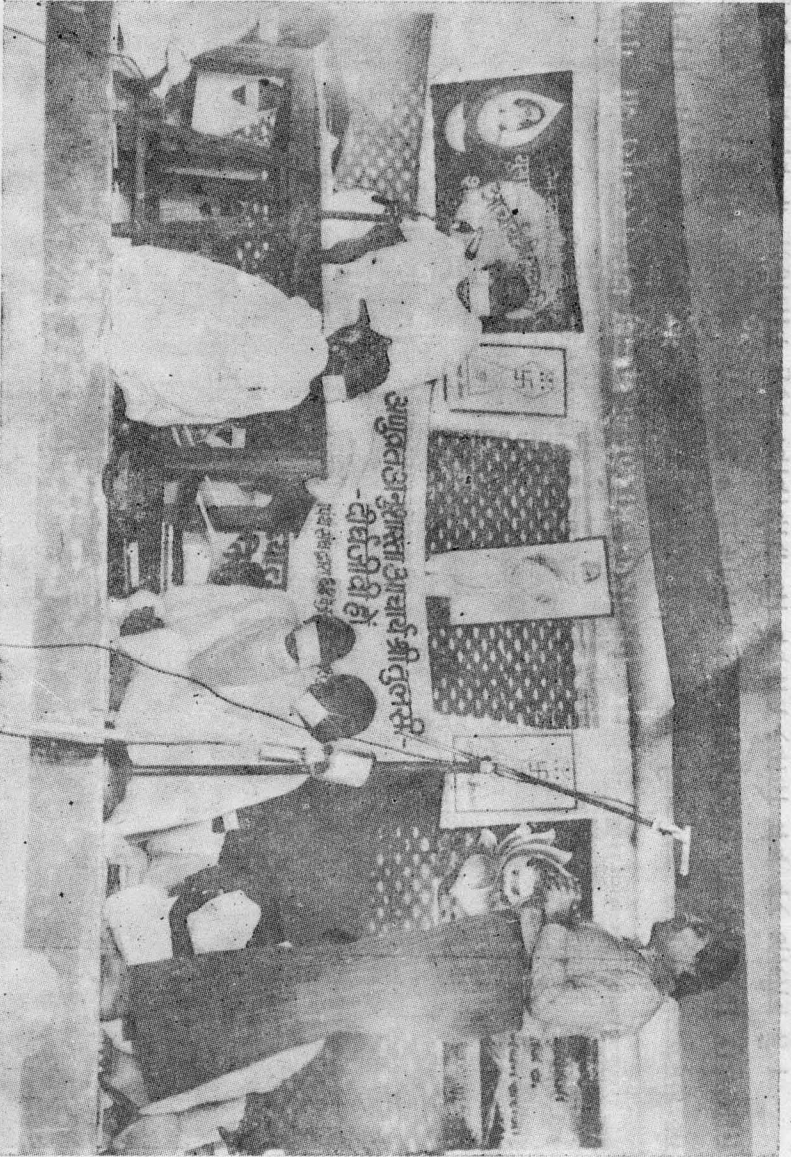
अगस्त 78	नये रोगी 17	पुराने रोगी 57	कुल 74
सितम्बर 78	„ „ 15	„ „ 69	कुल 84
अक्टूबर 78	„ „ 13	„ „ 70	कुल 83

केन्सर की दवा मोमासर निवासी श्रीमान् उत्तमचन्द्रजी सेठिया के आर्थिक सौजन्य से निर्मित होती है एवं निःशुल्क वितरित की जाती है। आवश्यकतानुसार पूरक औषधियों का व्यवस्था पत्र दिया जाता है, जिन्हें खरीदना पड़ता है।

रोगियों का रोग निदान एवं उन्हें औषधि-व्यवस्था का कार्य सुयोग्य, अनुभवी वैद्य श्री पं० रतनलालजी गोस्वामी द्वारा होता है। इनके मधुर व्यवहार से सभी प्रसन्न हैं।



आचार्य श्री के ६४वें जन्म दिवस पर 'महाप्राज्ञ" उपाधि विभूषित मुनि श्री नथमल जी भाषण करते हुए । सर्वोच्च न्यायालय के तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश श्री बेग तथा राजस्थान उच्च न्यायालय के तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश श्री वेदपाल त्यागी मंच पर आसीन हैं ।



आचार्य श्री के ६४वें जन्म दिवस पर जैन विश्व भारती के अध्यक्ष श्री सूरजमल जी गोठी अपने विचार व्यक्त करते हुए । मंच पर आचार्य श्री तुलसी विराज रहे हैं । कई अन्य संत सांनिध्य में विराज रहे हैं ।

TULSI PRAJNA

Journal of the Jain Vishva Bharati

Vol. IV

October-November, 1978

No. 3-4

Editor

Dr. Nathmal Tatia

Assistant Editors

Dr. Pushpa Gupta : Dr. Kamalesh Kumar Jain

Managing Editor

Gopi Chand Chopra



Jain Vishva Bharati, Ladnun, Rajasthan

TULSĪ PRAJNĀ

Vol. IV

October-November, 1978

No. 3-4

CONTENTS

1. The Antiquity of the Ayaro Nathmal Tatia
2. Preksha Dhyana : A Unique
System of Meditation J. S. Zaveri

First Srutaskandha

The Antiquity of the Āyāro

Contd. from the previous issue)

Dr. Nathmal Tatia

3. Our text provides a vivid picture of the ascetic life that dominated the society of the days of Mahāvīra and Buddha. Some of the expressions used in the text are, in fact, the prototypes of what we find enunciated in the systematic works of early Jainism and Buddhism. The moral and monastic discipline of the Jainas which was codified in later times are discernible here in a rudimentary form couched in expressions which are pregnant with principles that served as a bridge between the ascetic codes of the pre-and post-Mahāvīra periods. Even the five *mahāvratas* (great vows) which have the universal sanction of all schools of Indian philosophers are here only in the process of evolution. There are also ideas and concepts that gave way to their nearby counterparts which gained currency in the changed set-up. We shall here study a number of such amorphous expressions to see how they contributed to the evolution of concepts which later on became static and solid in their connotation.

(i) The Five *Mahāvratas* (Great Vows) : Of the five *mahāvratas* of later days, the first, viz. *ahiṃsā* has found place in our text in numerous contexts, and is indeed the persistent theme dominating over all other principles that constituted the moral life of those times. All types of *hiṃsā* perpetrated on all kinds of beings, beginning from the one-sensed organisms upto the fully-developed five sensed beings are condemned. The words *daṇḍa* (penal instrument) and *sattha* (weapon of violence) are repeatedly used to denote violence. A person who is careless (*pamatta*) in his conduct and is engrossed in sensual pleasures (*gūṇatṭhite*) is called *daṇḍa* (penal instrument)³⁵. All suffering is due to *hiṃsā* qua *ārambha* (violent action)³⁶ The word *sacca* (truth) which is the designation of the second *mahāvratā* is used with a special connotation in our text. *Sacca* stands for the word of the Enlightened One, that is, the discipline propounded by Him,³⁷ and not simply 'desisting from false-

hood'. The third traditional *mahāvratā*, viz. *adiṇṇādāṇa* (unauthorized appropriation) is mentioned immediately after (desisting from)* *sattha* (weapon of violence).³⁸ This second position occupied by the traditionally third *mahāvratā* tallies with the Buddhist custom of placing it at the second place in the list of *sīlas*. As regards the traditional *mahāvratā* of *brahmācārya* (celibacy), our text usually mentions it as '*vasittā bambhaceramsi*' (practising monkhood, literally 'living in chastity').³⁹ It is also used singly on one occasion.⁴⁰ The use of the expression '*bambhavam*' as synonymous with *dhammavam*⁴¹ also points to a wider connotation of the word '*Bambhacera*'. The *mahāvratā* of *aparigraha* (non-possession of property) is stated through the phrase '*pariggahaṃ amamāyamāṇe* (not attached to the possessions)⁴², which does not formulate the vow in the fashion of its traditional definition. The indefinite nature of this vow in the Buddhist tradition confirms the position of our text in the matter. This review of the state of *mahāvratas* in the first Śrutaskandha of the Āyāro clearly demonstrates the uncrystallized forms of the great vows in those days. A passage of the Āyāro deserves our consideration in this connection. It mentions a discipline of the *jāmas*⁴⁵ which, if explained in the context of sutras I. 8. 1. 3-5, might stand for the great vows of *pāṇāivāyāo veramaṇam* (desisting from killing), *adiṇṇādāṇāo veramaṇam* (desisting from theft) and *musāvāyāo veramaṇam* (desisting from false speech), the meaning of *musāvāyā* being analogous to that given in the *Tattvārthabhāṣya* VII 9, which appears to be a faithful record of the original content of the vow. These sutras run as follows :

(3) *ihamegesim āyāragoyare no sunisaṃte bhavati, te iha ārambhātthi anuvayamāṇā, haṇamāṇā, ghāyamāṇā, haṇato yāvi samanujāṇamāṇā; (4) aduvā adiṇṇamāiyamti; (5) aduvā vāyāo viumjamti, tam jahā atthi loe, natthi loe dhuve loe adhuve loe.....*

That is, (3) some people are not well instructed as regards the subject of conduct; they are desirous of actions, repeat them in words; they kill (creatures), make others kill and approve of (such acts); (4) or they take what has not been given to them; (5) or, they pronounce divergent opinions, viz. 'the world exists', 'the world does not exist', 'the world is eternal'; 'the world is non-eternal'; and so on. Here the content of the sutra no. 5 may be interpreted as referring to *musāvāye* (false speech) of later times, and we have the *Tattvārthbhāṣya*, VII. 9, which explains the vow in a similar fashion to endorse such interpretation. The traditional great vows as reflected in our text are thus the precur-

*Our addition

sors of the classical codification of the subject in the other Āgamas and the treatises. The word *vrata* (vow) is also conspicuous by its absence in our text.

(ii) The Mārga (Path) : The classical definition of the *mokṣa-mārga* (path of emancipation) as consisting in *samyag-darśana* (right view), *samyagjñāna* (right knowledge) and *samyak-cāritra* (right conduct) is absent. A very simple, though immensely poignant, description of the path of emancipation has found vent in the statement : *se kiṭṭati tesim samutṭhitānaṃ nikkhittadandānaṃ samāhitānaṃ paṇṇānamamānaṃ iha muttimaggam* (He, the Exalted One, here propounds the path of emancipation to those who are exerting their spiritual vigour, have given up weapons of violence, are practising meditation, and are full of penetrating wisdom).⁴⁴ The spiritual vigour, mentioned here, stands for *vīrya* (energy) which is the *sine qua non* of the spiritual activity, rejection of violence is the epitome of the *śīlas*, and the elements of *samādhi* (meditation) and *prajñā* (penetrating wisdom) are clearly mentioned in the statement. *Śīla*, *samādhi* and *prajñā* which are traditionally known as constituting the Buddhist path of emancipation are thus clearly implied in the above description. As regards the *samyag-darśana* of Jainism, it is expressed by the term *daṃsaṇa* in the passage: *se vaṃṭā koḥaṃ ca māṇaṃ ca māyaṃ ca lobhaṃ ca getaṃ pasagassa daṃsaṇaṃ uvaratasatthassa paliyaṃta-karassa āyānaṃ sagaḍabbhi* (he conquers anger, pride, deceit, and greed; this is the view of the seer who desists from weapons of violence, has put an end to the sources (of *samsāra*), being the destroyer of his karma)⁴⁵. In another passage⁴⁶ the items of *pejja* (lust), *dosa* (hatred), *moha* (delusion) *gabbha* (womb), *jamma* (birth), *māra* (death), *naraga* (hell), *tiriya* (animal) and *dukkha* (suffering) are added to just mentioned list of anger, etc., which are to be conquered for attaining the right view. On yet another occasion⁴⁷ this *daṃsaṇa* (view) is identified with *diṭṭhi* (view), *mutti* (faith), etc., which leaves no doubt that the concept is the forerunner of the *samyag-darsana* or *samyagdṛṣṭi* in the system of Jaina ethics. As for the *samyag-jñāna*, the expression *paṇṇāna* (Skt. *prajñāna*) mentioned above, is the prototype which is represented by the Pali word *paññā*. As regards *samyak-cāritra*, the statements *ahege dhammāḍāya ādāṇappabhiti suppaṇihie care appalīyamāṇe daḍhe savvam gehiṃ pariṇṇāya* (having embraced the dhamma, one should practise it from the very beginning with extreme precaution and firmness, not succumbing to worldly things, fully abandoning all lust),⁴⁸ *vaigutte ajjhappasamvuḍe parivajjai sadā pāvamaṃ* (being reserved in his speech

and guarding his mind, he should always avoid sin)⁴⁹, and the like, contain the rudiments of the system of moral conduct formulated later on. The concept of *mārga* (path) thus is represented in our text through a terminology which is most popular in character and far removed from its later crystallization in the systematic treatises dealing with the topic.

(iii) *Āsava* : The expression *āsava* is used in the sense of hardship to be borne by an ascetic. 'Even if the creatures injure the body, he should not move from the place; he should endure (with patience), being afflicted by different types of *āsavas* (hardships)' .⁵⁰ This is also exactly the meaning of the Pali word '*āsava*' in the phrase *adhivāsanaṃ pahātabbā āsavā*' (the hardships which are to be got rid of through endurance).⁵¹ The word is used in this very sense in the phrase—*j.e. āsavā te parissavā, je parissavā te āsavā* (what is hardship is privation, what is privation is hardship).⁵² The meaning of the word *parissava* in this phrase is analogous to that of the Pali word *parissaya* which stands for the privation of hunger, heat, cold, insect-bites and so on.⁵³ This reminds us of the *parisāhas* of the second chapter of the *Uttarajjhayana*. The expression *āsava* gradually underwent a great semantic change in the ethical system of the Jainas.

(iv) *Ñivvāna, Pariñivvāna, Pamokkha* : We have already given the synonyms of *nirvāna* in 2 (x), which unequivocally indicate a state of spiritual peace and tranquillity and pliability of body and mind. The expression *ñivvuḍa* or *ñivvuta* which are past participles of *ñivvāna* stand for a person who desists from sinful activities and is free from all desires.⁵⁴ The expression *pariñivvāna*, however, is used to denote freedom from fear and suffering, the past participle '*pariñivvuḍa* standing for the state of being a source of fearlessness and freedom from attachment and animosity.⁵⁶ The expression '*pamokkha*' refers to deliverance from suffering (*dukkhā pamokkhasi*)⁵⁷ or death (*maraṇā pamuccati*)⁵⁸. *Ñivvāna* and its equivalents thus primarily stand for emancipation from suffering and not for any positive condition of unimpeded bliss as the later thinkers would try to interpret them.

(v) *Samdhi* : The word *samdhi* appears as standing for the 'juncture' of birth and death and is perhaps the precursor of the concept of *praṭisandhi* (rebirth). The expression *rūvasamdhi* (material juncture or the meeting-point of matter and spirit) in the following passage clinches the issue : 'Those who are not addicted to sinful activities might be liable to calamities, but the steadfast will bear them (with patience). As in the past, so in the future, the body is

(always) subject to change and destruction, unstable, transient, non-eternal fattening and defattening, and of a changeable nature; look at this material juncture (*rūvasaṃdhi*). For him who looks at things rightly, who is devoted to one purpose, who is disentangled and detached, there is no passage (from birth to birth),⁵⁹ One who has searched out the (proper) moment (*khaṇa*) of the body has identified the juncture (*saṃdhi*).⁶⁰ The phrases *macciehiṃ saṃdhiṃ* (juncture with the mortal ones),⁶¹ *logassa saṃdhiṃ* (juncture of the world),⁶² and *saṃdhi jhosito* (the juncture destroyed)⁶³ confirm our conjecture about the connotation of the expression 'saṃdhi'. The expressions 'saṃga' and 'saṃjoga' are also used in a similar sense. Thus we have 'āvatasoe saṃgmabhijānāti' (he knows the connection in the current of the whirl),⁶⁴ 'ete soyā viyakkhātā jehiṃ saṃgam ti pāsahā' (these have been declared to be the currents, look at the connection with them).⁶⁵ As for the use of 'saṃjoga'; we find passages like 'esa vīre pasasie acceti logasaṃjogaṃ, esa nāe pavuccati' (he is extolled as a hero, he transcends the connection with the world, he is called the leader (to the right path). "The most significant use of the word is found in the following excerpt which gives a total view of the spiritual path from beginning to end : dukkhaṃ logassa jānittā, vaṃtā logassa saṃjogaṃ, jaṃti virā mahājānaṃ, pareṇa paraṃ jaṃti, nāvakaṃkhamti jvītam.⁶⁷ That is, knowing the suffering of the world, rejecting the connection (*saṃjoga*) with the world, the heroes go on the great path; they rise higher and higher, and do not hanker after life. Here the four factors, viz., (1) suffering, (2) the cause of suffering (*saṃjoga*), (3) the path, and (4) the release from hankering which is the cause of suffering, are tersely stated. In other words, we here find the rudiments of the four *ārya-satyas* (noble-truths) of the Buddhists viz. *dukkha* (suffering), *samudaya* (cause of suffering), *nirodha* (release from suffering) and *mārga* (the path leading to the release).

(vi) *Sarvañātā* (Omniscience) : There is no reference to the subject in our text. On only one occasion, however, it is said, 'one who knows the one, knows all, (*savvam jāṇai*), and one who knows all knows the one; there is fear for the careless from all quarters, and there is no fear for the careful from any quarter; one who controls the one, controls the many and one who controls the many controls the one'⁶⁸. The context here is the subjugation of anger, pride, deceit and greed and the insight of the seer (*pāsagassa dāmsaṇam*). It should therefore be plausible that the knowledge in question refers to the comprehension of the nature and subjugation of any of these passions, and the consequent conquest

of the remaining ones. An insight into the nature of any one of these passions is followed by an insight into the nature of the rest or conversely the insight into the nature of all these is virtually an insight into the nature of any one of them. The concept of traditional omniscience, however, cannot be read into the above statement by any stretch of imagination.

(vii) *Paṇṇāna* (Perception, Insight) : This expression played a very important role in the Jaina as well as Buddhist soteriology, as also epistemology. The Buddhist Pali equivalent of this word is *paññā* (Skt. *prajñā*). The expression *paṇṇāna* has an epistemological sense in the compounds *sotapaṇṇāna* (auditory preception), *cakkhupaṇṇāna* (ocular preception), *ghāṇapaṇṇāna* (olfactory perception), *rasupaṇṇāna* (gustatory preception), *phāsapāṇṇāna* (tactile perception).⁶⁹ This is comparable to the *Abhidharma conception prajñā* which is a factor common to all states of consciousness.⁷⁰ The other use of the term *paṇṇāna* in Jainism is in the sense of spiritual insight. Thus the compound *savva-samaṇṇāgata-paṇṇāna*⁷¹ means 'insight into the nature of all things'. Similarly the phrase *mahāvīrehiṃ paṇṇāṇamaṃtehiṃ paṇṇānamupalabbha*⁷² stands for 'having obtained insight from the great heroes who are possessed of the insight'. This meaning of *paṇṇāna* is in essential conformity with that of the expression *prajñā* in Buddhism, which is the consummation of the practice of *Śīla* (right conduct) and *samādhi* (meditation). The expression *paṇṇāna* thus as used in our text is pregnant with the future role that it was destined to play in Indian thought, specially Buddhism.

(viii) *Jñāna* (Knowledge) and *Darśana* (Perception) : The phrase *jāṇati pāsati*⁷³ is used to denote two separate aspects of knowledge, the verb *jāṇati* standing for knowing through various means, and *pāsati* for knowing directly through perception or intuition. Thus in the description *sejjaṃ puṇa jāṇejjā saha sammuiyāe paravāgaraṇeṇaṃ aṇṇesiṃ vā aṃtie soccā*,⁷⁴ the act of knowing is stated to be done through consensus of opinion, or interpretation made by others, or hearing from others. The verb *pāsati*, on the other hand, in the phrase '*pāsamaṇe rūvāiṃ pāsati*,⁷⁵ like *suṇeti* in *suṇamaṇe saddāiṃ suṇeti*, denotes simply the act of seeing with eyes, exactly as *suṇeti* denotes simply the act of hearing with ears. The word *pāsati* is also used, as note the corrections in the statement *aṃto aṃto pūtidehamtarāṇi pāsati puḍho vi savamṭāiṃ*⁷⁶ (in the interior of the body he perceives the foul interior humours and their several streams), figuratively to denote acuteness of

intelligence. The derivative *pāsaga* in the usages—*uddeso pāsagassa natthi*,⁷⁷ *etaṃ pāsagassa dāmsaṇaṃ*,⁷⁸ *kimatthi uvadhī pāsagassa*,⁷⁹ is used denote 'a person of deep insight'. Similarly the derivative *nāṇī* (from *jāṇati*) in *nissāraṃ pāsiya nāṇī*⁸⁰ stands for a 'wise person' (the expression *pāsiya* meaning 'having observed'). It is thus found that the verbs *jāṇati* and *pāsati* or their derivatives were used in various ways to denote the different aspects of the act of knowing or intuition—sometimes accentuating the distinction, and on other occasions obliterating it beyond recognition. In the phrase *nissāraṃ pāsiya nāṇī*, just quoted, the acts of *jñāna* and *darśana* are simultaneous, the latter being a part of the former. The distinction between the derivatives *pāsaga* and *nāṇī* is almost nil, as both imply the penetrating insight of the seer or the knower, irrespective of their linguistic connotations. The sharp line of demarcation between *jñāna* and *darśana*, drawn in the traditional Jaina philosophy, is absent in our text and the controversies that emerged among the stalwart supporters of the different theories on the relationship between the two concepts should have found an aetiological solution from the usages of the terms in our text.

(ix) *Dhyāna* (meditation): The biography of the Nāyaputta in the ninth chapter is an illustration of the role that was assigned to *jhāna* (Skt. *dhyāna*) in the life of an ascetic. His austerities flowed from his *jhāna*. He meditated day and night, self-restrained, mindful and concentrated (*rāmaṃ divaṃ pi jayamāṇe appamatte samāhite jhāti*).⁸¹ He meditated internally, fixing his eyes on the horizontal plane of the length of a man (*adu porisim tiriyaḥhitim cakkhumāsajja aṃtaso jhāti*)⁸² "That great hero, free from all distractions (*akukkue*) and seated (in a suitable posture), meditated—looking above, below and in front in concentration without guile (*apadiṇṇe*). Free from passions (*akasāyī*), devoid of greed (*vigatagehī*) and not attached to sounds and colours, he meditated."⁸³ The conditions of meditation, as cryptically given here, are comparable to those given in early Buddhist scripture. Although it is not possible to have a full picture of the course of meditation followed by the Nāyaputta, the strands that we are able to gather from stray references make it appear plausible that it was not essentially different from the one practised and preached by Gautama Buddha. There is a passage in our text which gives a somewhat vivid idea of what a meditator should do for gaining an insight into the nature of things. "With his (mental) eye wide open, and with a penetrating insight into (the nature of) the world (*logavipassī*) he knows the lower

part, the upper part, as well as the horizontal region, with infatuated creatures circling round. He knows the juncture of the world. The hero who unfetters the fettered one deserves praise. As is the interior (world of passions) so is the exterior (world circling round) and as is the exterior, so is the interior. In the interior of the body he perceives the foul interior humours and their several streams. The wise man, observing this and intelligently understanding the same, should not eat (his saliva). He should not throw himself flat on those things.”⁸⁴ This is obviously a practice which is the precursor of the Buddhist *kāyānupāssanā satipaṭṭhāna* (mindfulness concerning inspection of the interior of the body). An important aspect of this meditation is represented by the gerunds *pehāe* (having looked at)⁸⁵ and *sapehae* (having comprehended),⁸⁶ which indicate the necessity of right cognitive attitude towards the world. This brief account of meditation, read with the eighth chapter called *Vimoha-ajjhayaṇa* which prescribes immobility of the body at the highest stage, gives an idea of the earliest form of meditation prevalent in the early periods of Nirgranthism and Buddhism.

4. The above account of the contents of the earliest book of the Ardhamāgadhī scripture of the Jainas is given, as far as possible, on the basis of the text itself, as edited by Muni Shri Nathmalji (Jain Vishva Bharati) without any reference to the exegetical literature. This study may be considered supplementary to what has been done by the learned editor who has brought to bear his vast knowledge in disentangling many a problem that exercised the ingenuity of great scholars of the eminence of Jacobi and Schubring. The edition, with notes which are so penetrating, is a valuable contribution to the field of Jainological studies. The editor has the blessings and inspiration of the great saint and reformer Acharya Shri Tulsi who has been indefatigably working for the spiritual and moral and cultural regeneration of the nation for more than three decades. The translator Muni Shri Mahendra Kumarji, B.Sc., has also done his job excellently and we hope he would continue to do such work in the future with unabated zeal.

(concluded)

35. Āyāro I. 1.4.69 :
je pamatte guṇaṭṭhite, se hu daṇḍe pavuccati,
36. ibid : I. 3.1. 13 & 1.4.3.29 :
ārambhajaṃ dukkhamaṇaṃ ti naṇḍā.
37. ibid : I. 5.5.95 :
tameva saccam nīsamkam, jaṃ jinehiṃ paveiyam.

38. *ibid* : I. 1.3.58 & I. 8.1.4 :
 aduvā adinṇādāṇaṃ
 aduvā adinṇamāiyamti
39. *ibid* : I. 4.4.44; I. 6.2.30 & I. 6.4.78.
40. *ibid* : I. 5.2.35 :
 etesu ceva baṃbhaceram ti bemi
41. *ibid* : I. 3.1.4.
42. *ibid* : I. 2.5.88.
43. *ibid* : I. 8.1.15 :
 jāṃā tiṇṇi udāhiyā
44. *ibid* : I. 6.1.3.
45. *ibid* : I. 3.4.72-73.
46. *ibid* : I. 3.4.83.
47. *ibid* : I. 5.4.67-68.
48. *ibid* : I. 6.2.35-37.
49. *ibid* : I. 5.4.87.
50. *ibid* : I. 8.8.10 :
 paṇā deham vihiṃsamti thāṇāo ṇa viubbhame
 āsavehiṃ vivittehiṃ tippamāṇehiyāse
51. *Majjhima Nikāya* : I, p. 15.
52. *Āyāro* : I. 4.2.12.
53. *Suttanipāta* (*Sāriputtasutta*).
54. *Āyāro* : I. 4.3.38 & I. 8.1.16 :
 je ṇivvuḍā pāvehiṃ kammehiṃ aṇidāṇā te viyāhiyā.
55. *ibid* : I. 1.6.121 :
 nijjhāittā paḍilehittā patteyam pariṇivvāṇaṃ.
56. *ibid* : I. 6.5.107.
57. *ibid* : I. 3.1.9 & I. 3.3.64.
58. *ibid* : I. 3.1.15 & I. 3.2.36.
59. *ibid* : I. 5.2.28-30 :
 je asattā pāvehiṃ kammehiṃ, udāhu te āyamkā phusamti iti udāhu-
 vire te phāse puṭṭhohiyāse se puvvaṃ peyaṃ pecchā peyaṃ bheu-
 radhammaṃ viddhamśaṇadhammaṃ, adhuvam, aṇitiyam, asāsa-
 yam, cayāvacaīyam, vipariṇāmadhammaṃ, pāsaha eyam rūvam,
 samdhiṃ samuppehamāṇassa egāyataṇa-rayassa iha vippamuk-
 kassa, natthi magge virayassa tti bemi.
60. *ibid* : I. 5.2.20-21 :
 ayam samdhī ti adakkhu je imassa viggahassa ayam khaṇeti
 maṇṇesi
61. *Āyāro* : I. 2.5.127.
62. *ibid* : I. 3.3.51.
63. *ibid* : I. 5.3.41 & I. 5.5.98.

64. ibid : I. 3.1.6.

65. ibid : I. 5.6.118.

66. ibid : I. 2.6.168-170.

67. ibid : I. 3.4.77-78.

68. ibid : I. 3.4.74-76 :

je egam jānai se savvam jānai
je savvam jānai se egam jānai
savvato pamattassa bhayaṃ savvato appamattassa natthi bhayaṃ
je egam nāme se bahum nāme
je bahum nāme se egam nāme

69. ibid : I. 2.1.4 & I. 2.1.25.

70. Abhidharma-Kośa-Bhāṣya, II. 24.

71. Āyāro : I. 1.7.174.

72. Āyāro : I. 6.4.76.

73. ibid : I. 2.2.37 & I, 5.6.120.

74. ibid : I. 1.1.3 & I. 5.6.114.

75. ibid : I. 1.5.94.

76. ibid : I. 2.5.130.

77. ibid : I. 2.3.73.

78. ibid : I. 3.4.72.

79. ibid : I. 3.4.87

80. ibid : I. 3.2.45.

81. ibid : I. 9.2.4.

82. ibid : I. 9.1.5.

83. ibid : I. 9.4.14-15 :

avi jhāti se mahāvīre, āssaṇatthe akukkue jhānaṃ
uddhamāhe tiriyaṃ ca, pehamāne samāhimapadiṇṇe
akasāi vigayagehī saddarūvesu amucchie jhāti

84. ibid : I. 2.5.125-133 :

āyatacakkhū logavipassī logassa aho bhāgaṃ jānai, uddham
bhāgaṃ jānai, tiriyaṃ bhāgaṃ jānai, gaḍhie aṇupariyaṭṭamāne
saṃdhiṃ vidittā iha macciehim, esa vīre pasamsie, je baddhe
paḍimoyae, jahā aṃto tahā bāhim, jahā bāhim tahā aṃto, aṃto
aṃto dehamtarāṇi pāsati puḍḍho vi savamtaim paṇḍie paḍilehāe.
se maimaṃ pariṇṇāya, mā ya hu lālaṃ paccāsī mā tesu tiriccham-
appānamāvātae.

85. ibid : I. 2.5.138.

86. ibid : I. 4.3.32.

—o—

Two lumps of sand—one wet and the other dry—were thrown.
Both dashed against the wall. The wet lump got stuck there.

Likewise, the dull-witted people who indulge in worldly pleasures
are entangled into those pleasures. Those who are unattached do not
get struck with them like the dry lump. —Uttarajjhayaṇa, 25/40-41.

Prekshā Dhyāna

A Unique System of Meditation

J.S. Zaveri

'To see' is the literal and simple translation of the term "Preksha"¹. Now if we look for the meaning of the word "see" in a dictionary² we find that it has many aspects, viz :—

"See :—exercise power of discerning objects with eyes; perceive objects by the sight; perceive mentally; ascertain by inspection, experiment, consideration etc.;

See through :—penetrate; see real character of; through disguise or false appearance; continue to watch or take care of until the end or until difficulties are overcome, etc. etc."

Each of the above aspects has its own significance and the integrated interpretation gives us an idea of the process of seeing.

"Preksha" is thus a process of ascertaining and knowing the TRUTH and the important steps in the process are :

Observation, inspection, experimentation, consideration and judgement. It is not only "seeing" but "seeing through" which connotes deep penetration to ascertain the real character after rejecting the false appearance or disguise.

The term "Dhyana" (meditation) is usually defined as the concentration of thinking on a particular object for a length of time. Now, the mind is the instrument of thinking as well as of perception, and therefore, when linked with "Preksha", "Dhyana" becomes concentration of perception and not of thought. It is conceded that both thinking (conception) and seeing (perception) can assist us in ascertaining and knowing the truth. However, the latter is not only a more powerful instrument than the former but also more practicable. This

1. "Preksha" is derived from the Sanskrit word "Pra+Iksha" which means to observe carefully.
2. The Reader's Digest, Great Encyclopaedic Dictionary Vol. II

is because perception is strictly connected with a phenomenon of the present. It is neither a memory of the past, nor an imagination for the future. Whatever is happening at the moment of perception must necessarily be a reality. The process of perception, therefore, excludes a mere appearance.

Mind is ever restless. Meditation aims at restraining the mind's wandering and ultimately brings it to rest. Conventionally this is sought to be achieved by total stoppage of thought. But to stop the flow of thoughts for any length of time, is extremely difficult if not impossible. In fact, the suppression of mental activity makes the mind more restless than ever. In "Prekshā" meditation, however, the mind is engaged in concentrated perception and the mental functioning is not stopped or suppressed but regulated and canalised. This is because the two functions of mind viz : conception and perception, cannot work simultaneously. The mind can, with practice, be regulated and disciplined to concentrate in the perception of a single event or phenomenon for a good length of time. The mind, thus engaged in the process of perception is not available to that of thinking. The "Preksha" meditation is, therefore, a practical way and powerful instrument for stabilising the constant restlessness of mind.

The mind functions in four stages. The first stage is attention; here, the mind applies itself to an object, perceived by one or more sense organs and then either wanders away or passes into the second stage—contemplation. Now the mind steadies itself on the object of perception for longer time. The stage of attention is very superfluous and has no significance in the process of "Dhyāna". The contemplation is the first or preliminary phase of "Dhyāna" in which the wandering mind is, with an effort, steadied on a single object. In the next stage—concentration—the flow of mental functioning is canalised and fixed on the object of contemplation for a longer period. This is the pre-meditation phase and is called "Dhāraṇā" (धारण). In the final stage, the practitioner is able to concentrate on a single object of perception for a longer period of time. To achieve the final phase viz. meditation, the inherent potential capacity of the mind must be systematically developed by regular and constant practice of contemplation and concentration.

Next, we come to the choice of the object of perception. In the practice of "Preksha" the objects of perception are internal phenomena of consciousness and not external objects. Certain physiological processes lend themselves as suitable tools for this purpose. The process

of breathing can be considered an ideal object of perception to train the mind. This is called SVĀS PREKṢĀ. As is well-known, breathing is normally automatic, that is, it does not need attention but is also amenable to mental control. If one so desires, one can, even without much practice, change and modify the rate, duration and depth of breathing. At the same time breathing is a reality i.e. neither a memory nor an imagination. The practice of concentration starts by focussing the mind's eye on the ingress and exit of each breath. Once the mind, which was until now wandering and engaged in the observation of external objects and phenomena, is made to contemplate this internal function, it would control the rate of breathing by gaining some mastery over the autonomous nervous system. Simultaneously the efficiency of the mind would be systematically increased and it would be ready to pass into the stage of meditation.

Sharira-Prekshā : This is perception of the activities of the different parts and the organs of the body. It is another technique of Prekshā-meditation. In this, the mind is slowly taken over from the top of the head, to the toes of the feet, steadying it on each of the different parts of the organs for a few moments. Our body is a vast complex of factories in which various complicated, chemical, mechanical and electro-magnetic processes are constantly going on. Our heart pumps the blood making it reach the remotest corner of the body ; the gastro-intestinal tract digests the food and delivers nutrition to millions of cells through the blood stream ; our nervous system connecting various organs of the body to the brain is always active. These and many other physiological and biological functions, produce a large variety of sensations and emotions.

Now, there is a remarkable distinction between sensation and perception. Sense organs and other sensory out-posts, send, millions of separate sensation signals—coded messages—to the brain every second. These messages are the raw materials—the unprocessed input—of awareness. How the brain processes these raw sensations, interpreting them in the light of mood, expectations, and many other variations, is known as perception. A familiar illustration of the distinction between sensation and perception is pain. The same sensation signals, from a tooth-ache, for example, affects each person differently. His suffering is perception. The process by which the mind converts raw sensations into perception is complicated. While the sensation varies according to the power of the stimuli, perception varies by an infinity of factors, some within the body and the others

without. The state of emotions, in particular, may have a profound and at times decisive effect.

From the most ancient times men have sought to change their perceptions of the world and themselves deliberately altering their thoughts, expectation and creed in an effort to expand their sense of awareness. Enlightenment and knowledge lead to the control of emotions and passions by the reasoning mind.

In the process of Sharīra-Prekshā, the mind's eye is focussed on the internal complex of activities. Meditation aims to change perceptions in such a way that the mind can transcend the limitation of the physical brain. William James, the psychologist, says "Our normal waking-alertness is but one special type of consciousness, whilst all about it, parted from it by the flimsiest of screens, there lie many potential forms of consciousness entirely different. Prekshā leads to what lies beyond the normal waking alertness.

Constant and regular practice of Sharīra-Prekshā and Swās-Prekshā improves the perceptive efficiency of the mind, and in due course subtle internal phenomena of life processes are experienced and ultimately regulated.

Finally, whatever be the object, perception in Prekshā meditation must be uncontaminated by the emotion of like and distike. During the practice of Prekshā meditation, the feelings of pleasure or pain should not be allowed to affect the mental attitude. One should maintain a strictly neutral attitude towards both, while at the same time keeping them under close mental surveillance.

The contaminating emotions viz. pleasure, pain, fear, hatred, etc. are produced by the supine state of our reasoning mind. The aim of Prekshā meditation is to awaken the reasoning mind and to keep it awake and constantly vigilant.

—: o :—

Genius is one percent inspiration and ninety-nine percent perspiration. —Edison.

Journal of the Jain Vishva Bharati

It has been decided to convert the TULSĪ PRAJÑĀ—the Journal of the Jain Vishva Bhārati—from a quarterly bilingual research journal into a monthly bilingual organ with effect from the current issue, a combined issue for the months of October—November, 1978.

Besides research papers on all subjects of Jainology—Religion, Philosophy, History and Arts-cum-science topics—there is provision to incorporate in it the thought-provoking articles on metaphysics, tenets of Jainism, short biographics of the renowned ācāryas, monks and nuns, as also the prominent personalities, present or past, stories, historical events, poems and mini-poems (muktakas). Short accounts of various Jaina institutions are also welcome for publication.

Contributions should preferably be submitted typed on one side of the sheet. An article should not normally exceed 12 double-spaced typed sheets with wide margins for corrections. Copies of articles should be retained by the authors, as the MSS. are not likely to be returned.

It is essential that no article etc. should cast any aspersion against any sect or religion, so as to hurt their feelings.

Book-review is another feature of this organ, for which two copies of the publication must be sent. Every contributor of research paper only is, on prior request, given gratis 5 off-prints of his paper when published, alongwith a copy of the journal containing his paper. Extra copies may be supplied at cost, if requisition is made in advance.

Back numbers of Anusandhāna Patrikā, Vol. I, Part 1 to 5 and Tulsī Prajñā, Vol. I to III are available at the old rates of subscription, viz. Rs. 22/- a year. Single copy may be had at Rs. 6/-. Copies of issues No. 1 and 2 of Vol. IV are also available at Rs. 8/- per issue.

All correspondence should be addressed to :—

The Managing Editor, TULSĪ PRAJÑĀ,
Jain Vishva Bharati,
LADNUN, 341306 (Rajasthan).

जैन विश्व भारती, लाडनूँ महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

वाचना प्रमुख : आचार्य श्री तुलसी, विवेचक तथा सम्पादक : मुनि श्री नथमलजी

आगम ग्रन्थ :	मूल्य
१. अंगसुत्ताणि १ (आयारो, सूयगडो, ठाणं, समवाओ)	६५.००
२. अंगसुत्ताणि २ (भगवई : विआहपण्णत्ती)	६०.००
३. अंगसुत्ताणि ३ (णायधम्मकहाओ, उवासगदसाओ, अंतगडदसाओ, अणुत्तरोववाइयदसाओ, पण्हावागरणाइ, वियगसुयं)	६०.००
[उपर्युक्त तीनों ग्रन्थ संशोधित मूलपाठ, पाठान्तर, पाठान्तर-विमर्श, “जाव” पूर्ति और उसके आधारस्थल, विषयसूची, सम्पादकीय तथा भूमिका से युक्त, प्रत्येक भाग ११००-१२०० पृष्ठ]	
४. दशवेआलियं (द्वितीय संस्करण) पृष्ठ ६१२ साईज डिमाई १	६५.००
५. ठाणं पृष्ठ १२०० ” ”	१२५.००
६. आयारो—मूलपाठ, हिन्दी अनुवाद तथा टिप्पण	३०.००
७. दशवैकालिक (गुटका) मूलपाठ	१.००
८. उत्तराध्ययन (गुटका) मूलपाठ	३.५०
९. दशवैकालिक तथा उत्तराध्ययन—मात्र हिन्दी अनुवाद	१५.००
१०. दशवैकालिक, उत्तराध्ययन (हिन्दी-पद्यानुवाद)	१०.००

आगमेतर ग्रन्थ :

११. श्रमण महावीर—मुनिश्री नथमल	६.००
१२. भगवान महावीर—आचार्य श्री तुलसी	५.००
१३. भरतबाहुबलि महाकाव्य—अनु० मुनि श्री तुलहराज	३०.००
१४. सत्य की खोज : अनेकांत के आलोक में—मुनि श्री नथमल	५.००
१५. थ्योरी ऑफ एटम इन जैन फिलोसफी—जे० एस० जवेरी	६.००
१६. श्रेणिक बिम्बिसार एण्ड कृणिक अजातशत्रु	७.००
१७. प्रतिदिन का एक विचार (गुटका)—श्रीचन्द रामपुरिया	४.००

—: प्राप्ति स्थान :—

जैन विश्व भारती, लाडनूँ (राजस्थान)

Jain Vishva Bharati, Ladnun (Raj), 341306

प्रकाशक-मुद्रक : रामस्वरूप गर्ग, कार्यालय-सचिव, जैन विश्वभारती लाडनूँ, श्याम प्रेश
लाडनूँ के लिए एस. नारायण एण्ड संस, 7117/18, पहाड़ी धीरज, दिल्ली में मुद्रित